Satya ka Avahan

सत्य का आवाहन

Invoking the Divine

Year 5 Issue 4 July-August 2016
Membership Postage: Rs. 100

Sannyasa Peeth, Munger, Bihar, India

Hari Om

Satya ka Avahan is a bilingual and bi-monthly magazine compiled, composed and published by the sannyasin disciples of Sri Swami Satyananda Saraswati for the benefit of all people who seek health, happiness and enlightenment. It contains the teachings of Sri Swami Sivananda, Sri Swami Satyananda and Swami Niranjanananda, along with the programs of Sannyasa Peeth.

Editor: Swami Yogamaya Saraswati

Assistant Editor: Swami Sivadhyanam Saraswati

Published by Sannyasa Peeth, c/o Ganga Darshan, Fort, Munger – 811201, Bihar.

Printed at Thomson Press India (Ltd), Haryana

© Sannyasa Peeth 2016

Membership is held on a yearly basis. Late subscriptions include issues from January to December. Please send your requests for application and all correspondence to:

Sannyasa Peeth
Paduka Darshan
PO Ganga Darshan
Fort, Munger, 811201
Bihar, India

✉ A self-addressed, stamped envelope must be sent along with enquiries to ensure a response to your request

---

Front cover: Guru Poornima 2016, Paduka Darshan, Munger

Plates: 1–7: Guru Paduka Poojan;
8: Swami Niranjanananda Saraswati, Guru Poornima 2016

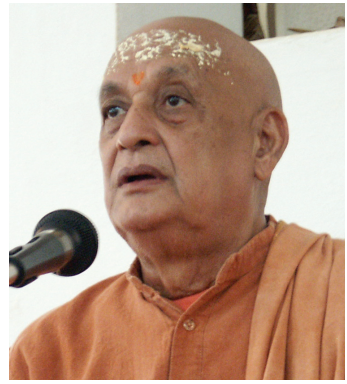

SATYAM SPEAKS – सत्यम् वाणी

It is the grace of the guru that allows you to eventually accept your inclinations, anger, desires, samskaras and personality that you now find so difficult to accept. Listen to your guru, for he is the knower of the mind, yours and his. He is, in a sense, the ultimate psychiatrist. He is your teacher, friend and inspirer. He is the person who will give you 'mental shakes' to awaken you from your 'wakeful sleep'. Listen to him, whoever he is, for it is he who will lead you to that which is beyond the mind.

—Swami Satyananda Saraswati

गुरु कृपा से ही तुम अपने क्रोध, प्रवृत्तियों, कामनाओं, संस्कारों और व्यक्तित्व को स्वीकार कर सकते हो। अपने गुरु की बात मानो, वे अपने और तुम्हारे मन को अच्छी तरह जानते हैं। वे दुनिया के सबसे अच्छे मनोचिकित्सक हैं। वे तुम्हारे शिक्षक, शुभचिंतक और प्रेरक हैं। वे ही तुम्हें सांसारिक नींद से जगाएँगे। वे जो भी हों, उनकी बात ध्यान से सुनो क्योंकि वे ही तुम्हें मन की सीमाओं के पार ले जाएँगे।

—स्वामी सत्यानन्द

Published and printed by Swami Shankarananda Saraswati on behalf of Sannyasa Peeth, Paduka Darshan, PO Ganga Darshan, Fort, Munger – 811201, Bihar.
Printed at Thomson Press India (Ltd), 18/35 Milestone, Delhi Mathura Rd., Faridabad, Haryana.
Owned by Sannyasa Peeth **Editor**: Swami Yogamaya Saraswati

Satya ka Avahan
Invoking the Divine

सत्य का आवाहन

Year 5 Issue 4 • July–August 2016

न तु अहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तिनाशनम्॥

"I do not desire a kingdom or heaven or even liberation. My only desire is to alleviate the misery and affliction of others."

—Rantideva

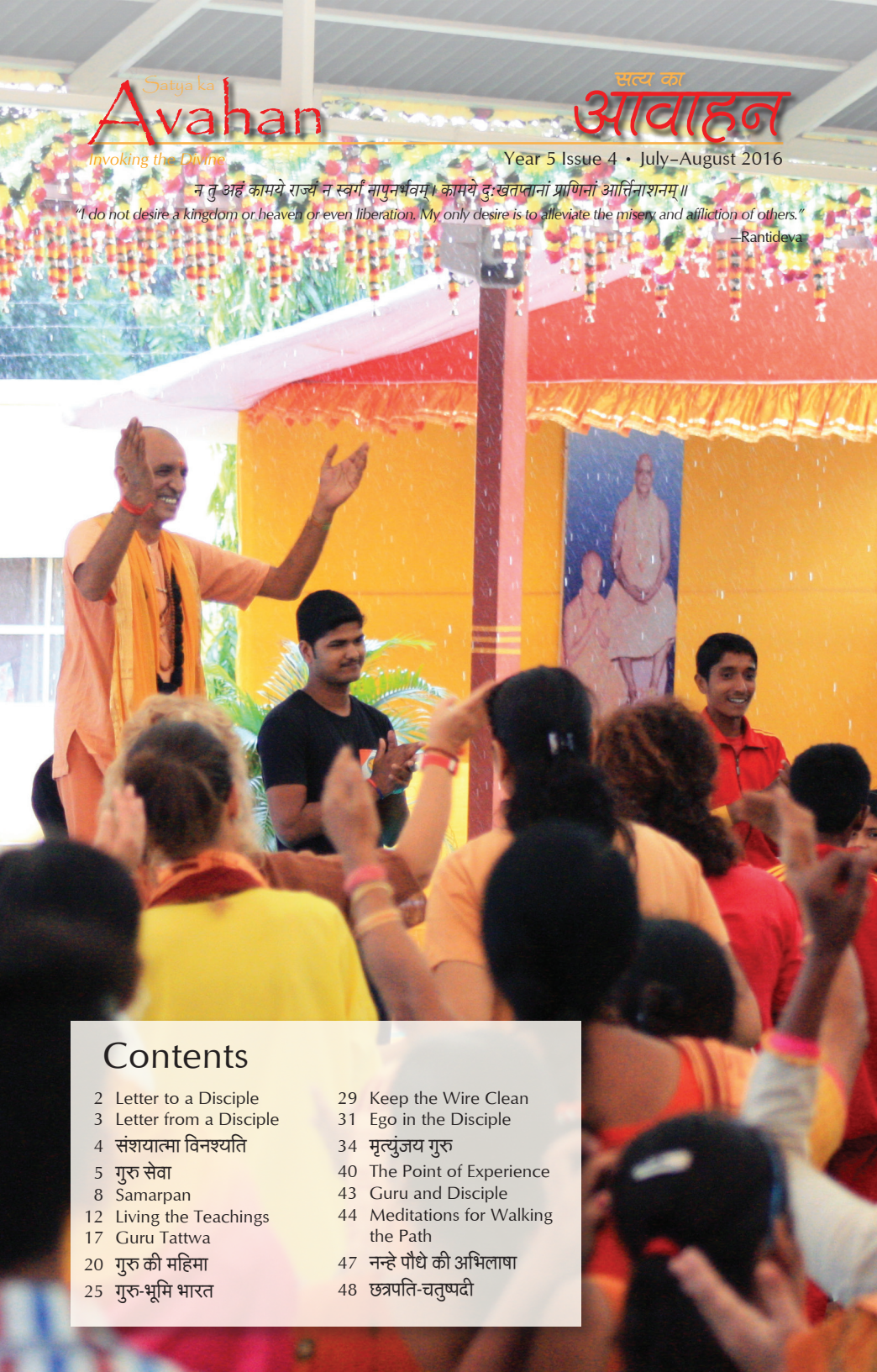

Contents

2 Letter to a Disciple
3 Letter from a Disciple
4 संशयात्मा विनश्यति
5 गुरु सेवा
8 Samarpan
12 Living the Teachings
17 Guru Tattwa
20 गुरु की महिमा
25 गुरु-भूमि भारत
29 Keep the Wire Clean
31 Ego in the Disciple
34 मृत्युंजय गुरु
40 The Point of Experience
43 Guru and Disciple
44 Meditations for Walking the Path
47 नन्हे पौधे की अभिलाषा
48 छत्रपति-चतुष्पदी

Letter to a Disciple

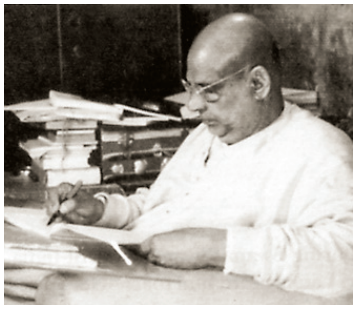

11.9.1953

Adorable Immortal Self
Salutations and adorations
OM Namo Narayanaya!

Thy kind letter. As you have got tremendous work, you can do a little Japa and meditation in the early morning as soon as you get up and at night before you retire to bed.

During work you can practise a little Nam Smaran. Even if there is a break, it does not matter. In the early morning practise mild Kumbhak or retention of breath and recite OM mentally when you retain the breath. Do this for five minutes. This will give you abundant energy. Detach. Attach.

D.I.N. Do it now!
Devotion, dedication, discipline.
Service, sacrifice and sublimation.
Aspiration, renunciation and meditation
Enquiry, discovery, recovery.

May Lord bless you. Om Tat Sat.

Thy own Self
With regards, Prem and OM
Swami Sivananda

Letter from a Disciple

I am Jignasu Hridayamaitri. I received my spiritual name during this Guru Poornima. I am here in the ashram for two months during my college vacation, and it has been a wonderful day today. In the evening there was Chhaya Samadhi pooja and parikrama. It was my first time inside the Chhaya Samadhi and probably the last for this vacation. I prepared my mind to meet Bare Guruji. In reality I have never met him, but I have heard about him a lot and have also seen his satsang videos. He is a beautiful person, and he is still here among us as certain incidents have proved. I hoped to meet him during the parikrama and naman.

As I walked in with folded hands, my curious eyes wanted to take a snapshot of each of those ten seconds among the beauty. Suddenly a person in the queue behind tapped me. I ignored her and continued to walk, why to stop! She turned me around and I saw a person enter the Chhaya Samadhi, quite apart from the queue. Our one and only Swami Niranjanananda Saraswati . . . Guruji! He smiled at us and walked down with inimitable grace. Why was he here?

I too walked in, glancing around to take in every inch of the construction. The flowers etched on the glass, the pink-blue colours, the little statue of God Ganesha and the yantra of Goddess Shakti. And a massive smiling picture of Bare Guruji. As I lifted my eyes to look at him, tears came to my eyes – beyond him stood my own tall guru, his face was right above the picture. I saw my guru and his guru together! My heart began to pound, my vision blurred, all sensations stopped. I hurriedly moved out afraid I would faint at the experience of this glory. As I walked away, the tears dried, and I felt a deep inner peace. I had met my spiritual name in Chhaya Samadhi.

– Jignasu Hridayamaitri

संशयात्मा विनश्यति

स्वामी शिवानन्द सरस्वती

एक समुद्री चट्टान पर दो व्यक्ति खड़े हैं। सूरज डूब रहा है, अँधेरा छा रहा है। आसमान में काले बादल मँडरा रहे हैं। किनारा अब दृष्टि से ओझल हो चुका है। ऊँची लहरें चट्टान से टकराने लगी हैं। भयंकर तूफान के आने की संभावना है।

उस अँधेरे में एक आदमी उनके सामने आता है और कहता है, 'मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें किनारे तक ले जाऊँगा।'

बुद्धिमान् व्यक्ति तैयार हो जाता है, लेकिन मूर्ख व्यक्ति पूछता है, 'तुम हमें इन तूफानी लहरों के पार कैसे ले जाओगे?'

'मेरे पास नाव है।'

बुद्धिमान् व्यक्ति कहता है, 'मैं तुम्हारे साथ चलूँगा,' पर मूर्ख कहता है, 'नहीं, मैं नहीं आऊँगा। अगर नाव गड़बड़ हुई या तुम्हारी नीयत ठीक नहीं निकली तो?'

बुद्धिमान् व्यक्ति नाव पर चढ़ जाता है और नाविक उसे किनारे तक पहुँचा देता है। मूर्ख व्यक्ति कुछ ही देर में तूफानी लहरों की चपेट में आकर डूब जाता है।

इस विशाल संसार-सागर में अनादि काल से डूबते-उतराते जीव को बड़े संघर्ष के बाद मनुष्य जन्म का वरदान मिलता है। अभी मोक्ष रूपी किनारा दूर है। समय हाथों से फिसला जा रहा है। जीवन की संध्या ढल चुकी है। मनुष्य की विवेक दृष्टि भौतिकता के बादलों से धुँधली पड़ गई है। अपने एकाकी जीवन की चट्टान पर वह चिंताग्रस्त और भयभीत खड़ा है।

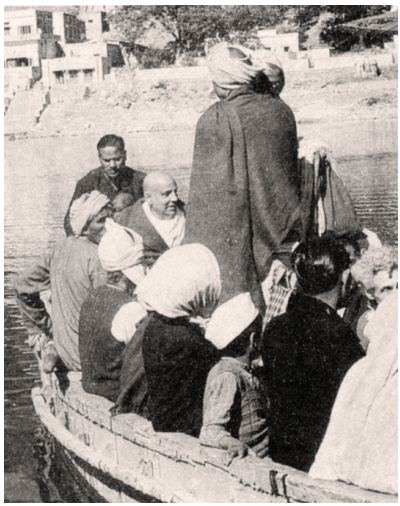

ऐसी स्थिति में गुरु भगवद्-भक्ति की नाव लेकर पहुँचते हैं और जीव को नाव में बैठने के लिए पुकारते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति तुरंत पुकार सुन लेता है, पर मूर्ख के मन में हजारों संदेह भरे होते हैं। वह गुरु की क्षमता और भक्ति की महिमा पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। कुछ ही देर में संसार-सागर उसे फिर से निगल लेता है और भगवान द्वारा दिया यह स्वर्णिम अवसर चूक जाता है। इसलिए गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है, *संशयात्मा विनश्यति*—गुरु और ईश्वर पर संदेह करने वाला विनाश को प्राप्त होता है। ■

गुरु सेवा

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती

सन् 1943 में हम एक ऐसे गुरु की शरण में गए और एक ऐसे आश्रम में पहुँचे जहाँ गुरु, गुरु था और आश्रम, आश्रम था। मेरा मतलब जैसा आश्रम होना चाहिए, वैसा था। और जैसे गुरु होने चाहिए, वैसे गुरु थे। वहाँ लालटेन भी नहीं थी, लैट्रिन-बाथरूम भी नहीं थे, लेकिन मच्छर और बिच्छू बहुत थे और साँप भी बहुत थे। और बन्दरों की तो पूछो मत! ऋषिकेश की बात कह रहा हूँ। आज का नहीं, 1943 का ऋषिकेश। दिन में दो आदमियों के दर्शन हो गए तो समझ लो कि आज दिन अच्छा है। आदमी के दर्शन ही नहीं होते थे। वहाँ बारह साल रहा हूँ। कोई किताब नहीं पढ़ी और न पढ़ने की इच्छा हुई। कोई शास्त्र नहीं पढ़ा, न पढ़ने की इच्छा हुई। योग पर कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा, न पढ़ने की इच्छा हुई। न संस्कृत पढ़ी, न पढ़ने की इच्छा हुई। दिनभर रसोई घर के लिए पानी लाओ, खाना हो गया तो बड़े बर्तन माँजो। इतने बड़े बर्तन माँजने पड़ते थे कि मैं आधा उसी में डूब जाता था। जंगल से मंदिर की पूजा के लिए बेल के पत्ते लाने पड़ते थे। गंगाजी से बाल्टी में पानी भरकर ऊपर पहुँचाना पड़ता था। जिन्होंने ऋषिकेश में शिवानन्दजी का आश्रम देखा है, वे जानते हैं मैं क्या कह रहा हूँ। जवानी थी, बचपन था, कोई दिक्कत नहीं थी। केवल कर्म ही कर्म करना पड़ता था और कुछ नहीं।

बारह साल पूरे हुए तो गुरुजी ने कहा, 'अब तुम जाओ, दुनिया में घूमो।' हमने कहा, 'स्वामीजी, हम कहीं बाहर नहीं जाएँगे, हम तो यहीं रहेंगे।' उन्होंने कहा, 'यहाँ रहोगे तो तुम बोनसाई हो जाओगे। बौने के बौने रहोगे। तुम तो बरगद का पेड़ हो। तुम्हें बाहर ही रहना चाहिए, अन्दर नहीं।' तो हमने कहा, 'फिर बाहर क्या करें?' उन्होंने कहा, 'योग को सारे विश्व में सिखाओ।' मैंने कहा, 'स्वामीजी, योग पर तो हमने कोई किताब ही नहीं पढ़ी।' स्वामीजी ने कहा, 'जब तुम मेरी किताब टाइप करते थे, तब योग पर ही टाइप करते थे। फिर तुम संपादन करते थे, वह भी पढ़ाई ही थी। फिर पहला प्रूफ आता था, उसको तुम पढ़ते थे। हिन्दी में

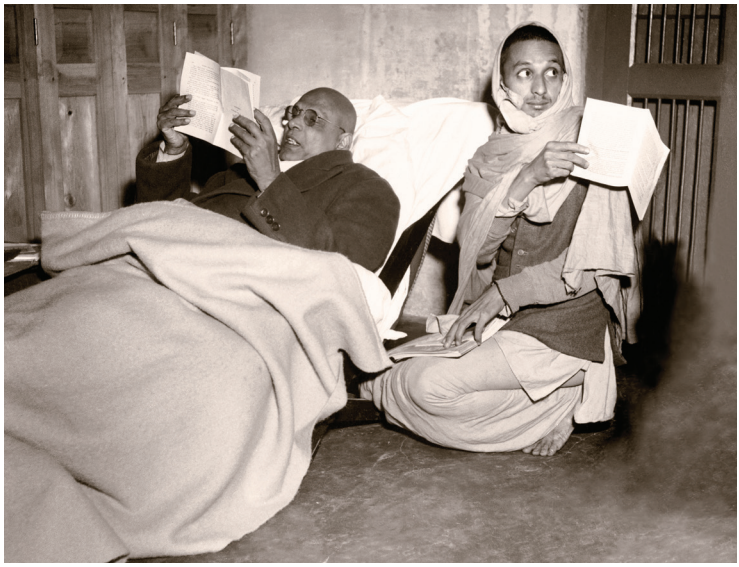

अनुवाद करते थे, उस समय भी तुम पढ़ते थे। फिर मशीन प्रूफ पढ़ते थे। तुमने तो मेरी एक-एक किताब आठ-आठ बार पढ़ी है।' मैंने कहा, 'स्वामीजी, पढ़ी नहीं, केवल आपकी किताब छाप दी थी।' मुझे तो कुछ भी पढ़ने का ख्याल ही नहीं था। टाइप करता था, हिन्दी में अनुवाद करता था, पहला प्रूफ पढ़ता था, मशीन प्रूफ पढ़ता था। स्वामीजी हँसकर बोले, 'वह पढ़ना नहीं था तो क्या था?'

मेरा दूसरा काम लाइब्रेरी में किताबों की सूची बनाने का था। हर एक किताब पढ़कर उसका पूरा विवरण नोट करता था। गुरुजी ने कहा, 'तुमने तो पूरी लाइब्रेरी चाटी हुई है।' मैंने कहा, 'नहीं, मैं तो केवल किताबों की सूची बनाता था।' न तो पढ़ने की वासना थी, न पढ़ने की जानकारी थी, केवल गुरुजी के लिए मैंने वह काम किया। यह सूक्ष्म चीज़ बता रहा हूँ। 'आहा! गुरुजी ने मुझे लाइब्रेरी में भेज दिया है, अब तो सारी किताबें पढ़ूँगा', यह शास्त्र-वासना है। 'अब तो मुझे वेद भी मालूम हो जाएँगे, पुराण भी मालूम हो जाएँगे, मैक्समूलर की किताबें भी मालूम हो जाएँगी,' मुझे ये सब ख्याल नहीं थे। गुरुजी ने सूची बनाने को कहा है, इसलिए मेरे ध्यान में सूची बनाना ही था। टाइप करने को कहा है, टाइप करना ही मेरा लक्ष्य था। ठीक उसी तरह जैसे गुरु द्रोण के कहने पर अर्जुन ने उस चिड़िया की केवल आँख देखी।

जैसे हनुमान को जाम्बवन्त ने याद दिलाया था कि तुम्हारे भीतर अलौकिक शक्तियाँ हैं, वैसे ही गुरुजी ने मुझे याद दिलाया कि तू सब पढ़ चुका है, सारी लाइब्रेरी तूने चाटी हुई है, मेरी सारी किताबें तूने आठ-आठ बार चाटी हुई हैं।

आठ-आठ बार कोई किताब पढ़ना कोई छोटी बात है क्या?

कम-से-कम बारह साल तक गुरु की सेवा करना शिष्य का धर्म होता है। आश्रम में रहकर संस्कृत पढ़ेंगे, साहित्य पढ़ेंगे और विद्वान् बनेंगे, यह भाव आचार्य के आश्रम में करना चाहिए। आचार्य के यहाँ विद्या, सिद्धान्त कौमुदी, महाभाष्य वगैरह पढ़े जाते हैं। पर जो गुरु अध्यात्म और अनुभव के धनी होते हैं, जिन्होंने अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है, ऐसे गुरु के साथ अगर तुम्हें रहना है, तो 'मुसल्ला फाड़, तस्वीह तोड़, किताबें डाल पानी में।' फिर किसी चीज की जरूरत नहीं है। कहते हो न कि परमात्मा मेरे ही अन्दर है, मैं सर्वज्ञ हूँ। और पानी पीने के लिए धोबिन से सुराही मँगवाते हो! अरे, सीधे पी लो न!

अगर मैं सर्वज्ञ हूँ तो ज्ञान मेरे अन्दर है। यदि मैं सर्वशक्तिमान् हूँ तो परमात्मा और सब शक्तियाँ मेरे अन्दर हैं। और यदि परमात्मा मेरे अन्दर हैं, तो मैं सर्वशक्तिमान ही नहीं, सर्वव्यापक भी हूँ। भगवान के तीन ऐश्वर्य हैं—सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता। अगर तुम कहते हो कि परमात्मा मेरे घट में बैठे हुए हैं, तब फिर तुम्हें यह विचार कैसे आता है कि मुझे कुछ नहीं मालूम। तुम केवल अपने अन्दर का खजाना, अन्दर की किताब खोलो—*काहे रे वन खोजन जाई। सर्वनिवासी, सदा अलेपा तोहे संग समाई॥*

जब हम बारह साल तक स्वामीजी के आश्रम में रहे तब हम एक शिष्य की तरह नहीं, नौकर की तरह रहे। नौकर की तरह कपड़े पहनते थे, नौकर की तरह जीवन बिताते थे। यह कभी नहीं सोचा कि मैंने गुरुजी की सेवा की तो मुझे लाइफबॉय साबुन, कोलगेट टूथपेस्ट और बाटा की बढ़िया चप्पल मिलनी चाहिए। ऐसा कुछ नहीं सोचा। आश्रम में कभी चप्पल नहीं दी जाती थी। तुम्हें यकीन नहीं होगा, बारह साल तक आश्रम ने चप्पल खरीदी ही नहीं। केवल मेरे लिए नहीं, किसी के लिए नहीं खरीदी। गीता प्रेस वाले जयदयाल गोयनका का गीता आश्रम गंगा के उस पार था। वे हर साल साधुओं को बाँटने के लिए कैनवास का जूता लाते थे। वही जूता हम पहनते थे। हमारे गुरुजी भी वही जूता पहनते थे। जयदयाल गोयनका उनके लिए विशेष जूता बनवा कर लाते थे, क्योंकि हमारे गुरुजी के पैर बहुत बड़े थे।

चाहे शिष्य संन्यासी हों या गृहस्थ, उन्हें गुरु आश्रम की सभ्यता और संस्कृति के अनुसार रहने की कोशिश करनी चाहिए। तुम आश्रम को नहीं बदलोगे, आश्रम तुम्हें बदलेगा। आश्रम श्रम की जगह है। मेहनत कितने प्रकार की होती है? शारीरिक, आध्यात्मिक और मानसिक। इसमें शारीरिक मेहनत सबसे ऊँची है। शारीरिक मेहनत करके इतनी थकावट आ जाती है कि तुम रातभर सोकर सीधे सवेरे उठते हो। शारीरिक श्रम आश्रम की विशेषता है। ■

Samarpan

Swami Satyananda Saraswati

Samarpan, surrender, is difficult to practise, whether to God or anyone else. Even if one sincerely applies oneself, certain thoughts arise, certain influences affect one's belief, doubt creeps in, questioning begins, and one falls prey to the influences of the mind. Two thousand years ago Christ's disciples had to face doubt, and today's spiritual aspirants will also have to face confusion and doubt. People say one should love, but loving is not easy. People say one should obey, but obedience is not easy. People say one should have pure intentions, but pure intentions are not easy. People say one should surrender, but surrender is not easy.

It has been said in the *Srimad Bhagavatam*: "The secret of your success is that you have dedicated yourself, you have surrendered yourself, but the moment you lose faith and forget your aim, you will succumb to doubts, anger, jealousy, passion, greed, delusion, fear, etc. Do not invite these dark

forces of ego, because with them in your mind you will not be able to exercise His divine will. All mental arguments are invalid and useless. Remember, the secret of your success is that you have surrendered your ego. Worldly love and divine love cannot co-exist."

The path of samarpan is the path of the brave, of those who have realized that God is all and that by surrendering to Him, they will lose their limited self and gain the Supreme Self. Surrender is not an act of escapism, not a negation or rejection of life. It is rectifying the negative notions and impressions that have formed over lifetimes due to worldly attachments. It is the path for those who wish to become free from passion, desire and illusion. Samarpan is the path for those who want divinity alone.

Make the choice

There are aspirants who are free and independent, and deeply interested in spiritual life. They know the glory of *tyaga*, renunciation, and do not crave money, passion, name, fame and power. Yet something prevents them from renouncing what they know to be temporary and embracing what they believe to be permanent. They know that the ambitions they failed to fulfil in worldly life will be realized by taking to the path of renunciation. Yet they do not surrender.

There are two reasons for this state. Such aspirants are not certain whether samarpan will bless them with all they have been aspiring for. Some unseen fear lurks within, and this fear comes only after they start to think twice about their notion of surrender. Many such aspirants eventually lose their inspiration due to the unconscious forces of jealousy and other complicated ego factors. Those who remain on the path continue to imagine the glory of renunciation while living in the abyss of fear and uncertainty. Very rare are the souls who leave their hearth and home and take refuge in God, whose door is always open to them. To such souls, my call is: "Come to your spiritual home. The choice is entirely yours."

Surrender of the ego

Surrender of the ego is the first step towards samarpan. A devotee can only qualify for samarpan if he is able to make a total offering of his ego. Many great, truthful, honest and pure people have missed out because they were unable to empty themselves of ego. So far in history, only very innocent people like Mirabai, Christ, Ramdas, Ramakrishna Paramahamsa or Ramana Maharshi have obtained the highest state of samarpan.

When one surrenders to divinity, life becomes happy and glorious. The devotee will not care whether there is joy or sorrow, gain or loss, because he has surrendered to the will of the Divine, and whatever He brings into his life is welcome. Samarpan does not mean prostrating before someone; it means surrendering the ego and intellect. This is not an easy process. If there is anything difficult in life, it is surrendering the ego which stands in the way of truth. However, the ego dies when meditation is born. The ego dies when bhakti is in full bloom. The ego dies when awareness becomes overwhelming. The vision of God is born out of the death of the ego. When the ego is surrendered, tensions leave the jiva, the individual soul, and cravings for pleasurable experiences dwindle into nothing.

It is the crude ego which is surrendered in the sadhana of samarpan. What one actually surrenders is one's limited identity and small self, so that one stops struggling with oneself and flows with the current of the Supreme Self. Sorrow is rooted in the limited ego, in the mind and the senses. If this ego can be surrendered at His lotus feet, all one's miseries will come to an end.

Perfect surrender requires the highest level of detachment, *vairagya*. However, what people usually surrender to is the sensory mind and worldly attachments. The mind says, "Do this," and one does it. The mind says, "Say this," and one says it. The mind says, "Desire this," and one desires it. The mind says, "Reject that," and one rejects it. One has become a slave of the mind. The real meaning of surrender is to detach, to renounce one's worldly existence and attach oneself to the

Divine. It means not being a slave to mental whims, fantasies and desires, but transcending the lower mind and communing with the higher Self.

Surrender is not possible if earthly desires remain in the heart of the devotee. God's grace does not descend until there is absolute, selfless projection of the ego. For this to happen, all the dross of the human nature and personality has to be removed. God forever accepts the surrender of a real devotee and in return gives His glory, His power, everything. God is captivated by supreme love, *para bhakti,* by devotion which is intense, totally absorbing and full of deep adoration. The supreme and selfless love of a para bhakta allows him to merge fully and completely with God. Such a devotee has no awareness of his own identity; he has no ego apart from his devotion to God. He no longer even thinks of himself as a devotee. His mind is so absorbed in God that he feels himself as God.

For the para bhakta everything merges into a homogeneous state. He becomes one with God and experiences divinity in everything. When the whole world is perceived as God, no books need to be studied, no meditation needs to be practised, nothing needs to be contemplated, and no hearing, thinking or introspection are required. There is no need to go to a forest, no need to enter a cave and no need to retire to the Himalayas. When everything is God, how can 'I' exist? 'I' does not exist; there is only Him. To attain Him one simply has to merge one's existence with Him, surrender oneself to Him. ■

Living the Teachings

Swami Niranjanananda Saraswati

When you look at the life of a person who is totally committed, devoted and dedicated, you see no less than a miracle. What is that miracle? When a person is totally committed, surrendered,

devoted and desireless, then in some way a divine intervention takes place to help that person. This happened with our paramguru, Swami Sivananda, whose life was a special and unique one.

Swami Sivananda's spiritual journey

When Swami Sivananda was working as a doctor on a banana plantation in Malaysia, he came across a book, *Brahma Vichara*, 'Thoughts on Brahma'. After reading that book, he could not continue in his previous life any more. He gave away everything to his patients and returned to India, but did not go to his home. He called a friend, gave him all his luggage saying, "Deliver this to my family. Give them my regards and ask them to bless me for my future journey."

From the station in Chennai he took a train to Varanasi. After spending a few days in Varanasi visiting different ashrams, sadhus, saints and sannyasins, he continued on to Haridwar. In those days, ninety or one hundred years ago, Rishikesh and Haridwar were tiny hamlets consisting of a few huts with little access. Sadhus and yogis use to live in contemplation, meditation and sadhana in those remote places.

Swami Sivananda had the inspiration that in these secluded mountains he would find his guru. He left the railway station in Haridwar and gradually started walking towards Rishikesh following a footpath through the forest. It was daytime and the sun was burning hot. After a few hours when he became tired, he sat down under a tree and relaxed with his eyes closed, falling into a gentle slumber. Suddenly he was woken up by a shadow that fell across his face. He opened his eyes and there before him stood a radiant sannyasin. The sannyasin asked Swami Sivananda, "What are you doing under this tree in this remote place?" Swami Sivananda replied, "I want to take sannyasa and I have come seeking a guru." The sannyasin said, "I am here to give you sannyasa." He initiated Swami Sivananda into the Dashanami order of sannyasa and then gave him certain spiritual guidelines and instructions, and left.

This meeting between guru and disciple, between Swami Sivananda the disciple and Swami Vishwananda the guru, lasted for about half an hour. After that, their paths never crossed again. However, the power of Swami Sivananda's sankalpa was so intense that in those thirty minutes of interaction, the guru became a part of the disciple's life and guided him from that moment on.

Atmabhava

After the meeting, Swami Sivananda went to Rishikesh, found a hut, and began to practise sadhanas. He came to the realization that attaining peace of mind, cultivation of bhakti, and connecting with every individual in the world is the principal aim of a human being. To achieve this, Swami Sivananda chose the path of Vedanta, particularly the theory of atmabhava, which was defined even more fully by Swami Satyananda in Rikhia.

Swami Sivananda lived atmabhava all his life. Every action of his was filled with atmabhava. *Atmabhava* is the reverence and respect that you experience when you know that a higher personality stands in front of you. You will not misbehave if a revered person is in front of you, yet you will misbehave when the revered person has gone away, as all children do. Adults also do this.

Once I was travelling from Patna to Munger by road. At one place I saw a crowd of people beating someone with sticks. I asked the driver to slow down, as we did not know what sort of trouble there was. As the car started to decelerate, somebody turned around and said, "Oh, Swamiji is in the car! Swamiji! Swamiji! Swamiji!" Everyone who was beating this person suddenly dropped their stick and stood there with a smile on their face, calling out, "Hari Om Swamiji!" After my car had gone ahead a hundred feet, they again picked up their lathis and started beating the person. I reversed the car, they again stopped, and this time I asked them for some water and directions to a nearby place. They got absorbed in telling me

all this and in the meantime the person they were beating got away, as I watched from the corner of my eye. Then we left. I thought, 'This is interesting. When they see a person they respect, they drop their misbehaviour and salute him, and when that person disappears from the field of view, then like children they go back to their atrocities.'

In the same manner, if you feel that God is present all the time and you are being watched by Him, would you ever commit any atrocity? Although another problem may arise: you may not do anything at all!

Once I tried this with some of my sannyasins. I gave them a banana each and said to them, "Eat it in a place where nobody will see you." One took his banana and went into the bathroom and ate it. He said, "No one saw me eat my banana in the bathroom." Another took his banana and went behind the building, made sure no one was looking, and then ate his banana. Another swami took her banana and went to her room, locked the room, and ate the banana. Like this, everybody ate their banana in the most isolated place, except one person. He said, "Swamiji, I cannot find any isolated place." I asked, "Why? The ashram is so big, there are so many rooms, go find any room." He said, "Swamiji, even if I go to an empty room, I see Guruji watching me, I see God watching me. So if they are watching me, how can I eat? I cannot find any place that is devoid of God and guru." So, if you believe that God is watching you all the time, you will have a big problem as you will not be able to commit any mischief or atrocity.

The point is that there has to be sincerity, commitment and openness. When these qualities are present, there is no block for the guru's energy to flow through, and you are able to live the teachings of the guru not only intellectually, but in reality. That is when you are able to live atmabhava. That is when your eyes do not see a sick person, instead you see the inspiration that guru has given you to serve that person. You do not see a starving person, instead you see the inspiration that guru has given you to help that person.

Living the teachings

The culmination of Vedanta and of atmabhava is living the teachings, not merely understanding them. People understand the teachings yet they do not live them. Swami Sivananda lived them, and that was the difference. Yoga, Vedanta, seva, bhakti, these became the foundation for launching his vision of a divine life.

The divine life is a way of life that everyone can live. Right now you are living material and sensorial lives. In the same manner, you can live the divine life. You can do this by cultivating the appropriate understanding, awareness and virtues that uplift the human nature, the human consciousness and the human society as well.

One person endowed with a particular quality can influence the entire society. Buddha was endowed with one quality: *ahimsa*, non-violence, and he influenced the entire society with that quality. Mahavir was endowed with one quality: ahimsa, and he influenced the entire society with that quality. Those who live a qualitative life become the beacons of inspiration for people in society who are searching for a way to overcome their stresses and limitations.

These are the teachings that Swami Sivananda gave to his disciples, who in turn became masters of Vedanta, yoga and seva. Yes, mastery of Vedanta is an achievement, mastery of yoga is an achievement, and mastery in seva is the highest achievement.

– Guru Poornima 2013, Ganga Darshan, Munger

Guru Tattwa

Swami Satyasangananda Saraswati

The *guru tattwa* signifies the guru element. This element exists in each one of us and is known as the inner guru. This inner guru is the witness of all that you do in your life, silently guiding you on the path to knowledge of the higher self. Sometimes you are distracted and obstinate and pay no heed to this guidance. Nevertheless the guru element waits patiently for the day when you will turn inwards and reflect on the deep significance it has on your life.

The guru tattwa is the highest and purest element that exists within you. It is timeless, ageless and indestructible. It does not decay with death, but is carried on from life to life. As it is not limited by time and space, this inner guru is a rather abstract phenomenon, having no form, colour or sound, and is perceivable only to those who have developed their inner vision. For those of us who live in the world of the senses, this inner guru might as well be a myth.

Therefore, in order to familiarize ourselves with this element which exists in each one of us, we have to find someone who is a direct representation or replica of that inner guru. The preservation of the guru-disciple tradition has been maintained simply for this purpose. The living guru symbolizes the guru tattwa in the disciple. The disciple offers himself to the guru and serves him selflessly in the manner the guru wishes because it is only through humble devotion to the guru that one can realize the guru tattwa in oneself.

The modern system of teaching cannot be compared to the guru-disciple relationship because it lacks one element – the guru tattwa. In India, the guru is considered far superior to a teacher. When any Indian comes into contact with the guru, he is full of respect and devotion. He accepts the guru in a physical form because he understands that the physical body is only the outer shell of an inner enlightened consciousness.

It is very important to develop a link with your inner guru, which is the centre you have been searching for. All the happiness, joy and pleasures you crave in the external world are only illusions in contrast to the infinite bliss that is contained within your inner guru. In fact, it is your unconscious search for the inner guru that compels you to hunt for pleasures in your worldly life. You are subconsciously aware of the experience that can be had by this contact, but due to your ignorance and due to the veil of *maya*, or illusion, you search for it elsewhere in the external world.

When you look at a flower, or a painting, or a beautiful person, you experience a certain pleasure. You think that

the object is the source of your happiness, but in fact the experience is taking place within you. It is not the object that is the source of happiness. It is your level of perception and awareness which determines the degree of happiness you are able to experience.

Where does this perception take place? Certainly not outside. It takes place inside you. In that moment you have had just a fleeting glance of that infinite source within you, and that is the cause of your joy. However, you relate it to the object and therefore chase the object in order to have that experience again. But this time there is an expectation. Therefore, your perception is conditioned, so the experience is not as acutely joyful and you are disappointed. So you begin your search again.

When you meet the guru, a similar process takes place. However, because the guru is a true replica of your inner guru, the experience is a more permanent one. Your external perception of the guru is directly related to your perception of the inner guru. If your link with guru is heightened and total, then you are simultaneously able to develop a deep link with the guru tattwa in you. Both experiences are parallel and co-exist side by side. As you develop the ties with the living guru, your contact with the inner guru becomes clearer, more vivid and tangible. And, in this way, the guru tattwa begins to manifest.

In the physical body, the guru tattwa is represented by ajna chakra, or the mid-eyebrow centre. It is at this point that you receive the instructions from your inner guru. It is also at this point that your outer guru commands and transmits wisdom. As you become more proficient in hearing your outer guru at ajna chakra, you will be able to discern the subtle and causal form of your inner guru or the guru tattwa. And in time it becomes a living reality. It is then that the true experiences begin in your life.

– *Extracted from* Light on the Guru and Disciple Relationship

गुरु की महिमा

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

संन्यास जीवन गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होता है। गुरु ही प्रत्येक संन्यासी के जीवन की धुरी होते हैं। गुरु के बिना संन्यास नहीं हो सकता, क्योंकि गुरु त्याग और संन्यास के मूर्तरूप होते हैं। गुरु शिष्य के कर्म और उसकी नियति को पहचान जाते हैं। शिष्य को दीक्षा देने के पूर्व गुरु को उसके विकास के स्तर का मूल्यांकन करना पड़ता है। उन्हें यह निश्चय करना होता है कि शिष्य किस सीमा तक भौतिक जगत् से बँधा हुआ है और किस सीमा तक उन बन्धनों को तोड़कर ऊपर उठ सकता है। तब उसके आधार पर गुरु निर्णय लेते हैं कि वह संन्यास के किस मार्ग के उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में गुरु का निर्णय ही अन्तिम रूप से मान्य होता है, इसलिए शिष्य को उस निर्णय को बदलने का आग्रह नहीं करना चाहिए।

संन्यास की दीक्षा केवल गुरु दे सकते हैं। दीक्षा के बाद शिष्य गुरु के माध्यम से संन्यास पथ पर स्थापित होता है। गुरु शिष्य को शिक्षित-प्रशिक्षित करते हैं और यह निश्चय करते हैं कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या होगा। गुरु के निर्देशों का पालन

करते हुए संन्यासी संन्यास के निर्दिष्ट पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ता जाता है। अपनी प्रगति को सुनिश्चित करने के लिए संन्यासी-शिष्य को अपने अहंकार को व्यवस्थित करने के लिए गुरु के हाथों में छोड़ देना चाहिए। तभी शिष्य गुरु की कृपा से संन्यास की उच्चतर अवस्थाओं तक पहुँच पायेगा।

अपने संन्यासी-शिष्यों की अहंकारी प्रवृत्तियों को उत्तरोत्तर तराशते जाने का गुरु का अपना तरीका होता है। वे शिष्य को उन कर्मों और संस्कारों का क्षय करने में उसकी सहायता करते हैं जो उसे संसार में बाँधे रखते हैं। बाद की अवस्थाओं में गुरु उसे एकान्त में जाकर साधना और तप के द्वारा अपने कर्मों का क्षय करने को कह सकते हैं। प्रारम्भ में गुरु उसे कर्मयोग के माध्यम से कर्मों का क्षय करने का निर्देश देते हैं। जिज्ञासु और कर्म संन्यास में कर्मयोग के रूप में समाज सेवा और सामाजिक उत्थान के कार्य होते हैं। वैराग्य संन्यास में यह संगठनात्मक कार्यों तथा मिशन के अन्दर और बाहर शिक्षण कार्य के रूप में होता है।

सम्प्रेषण द्वारा मार्ग-दर्शन

प्रारम्भ में संन्यासी चेतन अवस्था में बाह्य स्तर पर गुरु के द्वारा मार्ग-दर्शन प्राप्त करता है। गुरु अपने शारीरिक रूप में उसके सम्मुख होते हैं। कुछ समय बाद गुरु अपने आध्यात्मिक आयाम के प्रति शिष्य को सजग और सचेत करने के लिए अपने प्रत्यक्ष सान्निध्य से दूर कर देते हैं। इस अवस्था में संन्यासी सम्प्रेषण-शक्ति के माध्यम से अपने गुरु के निर्देश प्राप्त करने लगता है। गुरु अपने शिष्य से हजारों मील दूर हो सकते हैं, किन्तु वे अपने स्पन्दन को निरन्तर अपने शिष्य तक संचारित करते रहते हैं।

धीरे-धीरे संन्यासी अपने अन्दर ऐसी क्षमता उत्पन्न करता है जिसके द्वारा वह उनके स्मरण-मात्र से ही उनके साथ अदृश्य सम्पर्क स्थापित कर सकता है। वह आन्तरिक प्रयासों के द्वारा गुरु सम्प्रेषित स्नेह-तरंगों और निर्देशों के प्रति संवेदनशील हो जाता है। गुरु की अप्रत्यक्ष उपस्थिति पर स्वयं को केन्द्रित कर वह उनके सम्प्रेषणों के प्रति सजग रहना सीख जाता है। जब वह अपनी इच्छाओं को पूरी तरह हटा चुका होता है तब धीरे-धीरे सूक्ष्म सम्प्रेषण भी ग्रहण करना सीख जाता है। तब संन्यासी पूर्णरूपेण गुरु से जुड़ जाता है और गुरु भी अपने आध्यात्मिक ज्ञान एवं शक्ति सुगमता से उस तक सम्प्रेषित कर पाते हैं।

सम्प्रेषण के अनेक उदाहरण हैं। स्वामी विवेकानन्द को अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के स्पर्श से अलौकिक अनुभूति हुई थी। बिल्वमंगल को भी ऐसी ही अनुभूति हुई और वे संत सूरदास हो गये। हालाँकि इस प्रकार के सम्प्रेषण से ही सब कुछ प्राप्त नहीं हो जाता। संन्यासी को पूर्णता प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है। स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु का स्पर्श पाने के बाद भी मोक्ष प्राप्त करने के लिए सात वर्षों तक संघर्षरत रहे।

आश्रम जीवन

अध्यात्म विद्या मात्र बौद्धिक स्तर के अध्ययन, विचार या तर्क द्वारा समझी और प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके लिए पूर्ण अनुशासन और साधना आवश्यक है। यह सरल मार्ग नहीं है, कठिन श्रम और संघर्ष के बाद ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है। इसके लिए किसी आश्रम में किसी गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में रहना सर्वोत्तम होगा। परम्परा के अनुसार संन्यासी को बारह वर्षों की अवधि के लिए गुरु के आश्रम में रहकर निष्काम सेवा करनी चाहिए।

नवदीक्षित संन्यासी के लिए आश्रम जीवन की तुलना जंगल के जीवन से की जा सकती है, जहाँ जीवन के लिए पल-पल संघर्ष होता है। जो योग्य होता है वही टिक पाता है। संन्यासी को ऐसा वातावरण चाहिए जिसमें उसकी भ्रान्त धारणाएँ और मिथ्या आस्थाएँ खुलकर सामने आयें, जहाँ वह सतत् द्वन्द्वों और कठिनाइयों से संघर्ष करता रहे। आश्रम जीवन में वह सजगता के साथ इच्छा, घृणा, ईर्ष्या, लोभ तथा इसी प्रकार की अन्य भावनाओं का अनुभव कर सकता है, किन्तु साथ-ही उन भावनाओं में बहने से स्वयं को बचाकर रखना सीखता है। धीरे-धीरे वह अपने प्रति ईमानदार, विनम्र, अध्यवसायी और धैर्यवान् रहना सीखता है। जैसे-जैसे उसमें सजगता विकसित होती जाती है, वह अपने मन के साथ-साथ दूसरों के मन को भी समझने लगता है। वह अपनी गलतियों और दुर्बलताओं के समान दूसरों की गलतियों और दुर्बलताओं को स्वीकार कर लेता है।

आश्रम में रहकर गुरु की सतर्क निगरानी में संन्यासी को चार आध्यात्मिक गुणों—विवेक, वैराग्य, षड्सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान) तथा मुमुक्षुत्व का विकास करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। ये चार गुण संन्यास जीवन की आधारशिलाएँ हैं, जिनकी उपलब्धि के बिना इस पथ पर प्रगति सम्भव नहीं है।

गुरु के मार्गदर्शन में संन्यासी अपने व्यक्तित्व की दुर्बलताओं को दूर करता है। आश्रम समुदाय के एक सदस्य के रूप में वह अपने लिए कार्य नहीं करता। स्वार्थपरक कार्य करने के बदले अब गुरु के निर्देशन में उसकी सेवा समुदाय के प्रति समर्पित होती है। इस प्रकार की

समर्पित और निष्काम सेवा संन्यासी के जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जब वह कठिन तप और साधना के लायक नहीं होता, अत्यन्त अर्थपूर्ण होती है। कर्म के माध्यम से वह अपने मन को अनुशासित करना, शुद्ध करना और सजगता का विकास करना सीखता है। गुरु-सेवा द्वारा स्वयं को परिष्कृत करने के बाद वह प्रत्येक जीव में ईश्वर का दर्शन करने लगता है और तब मानवता की सेवा के लिए तैयार हो जाता है।

गुरु कृपा

गुरु की सेवा करते हुए संन्यासी उनके आदर्श के अनुरूप बनना और बिना 'क्यों-कैसे' जैसे प्रश्न पूछे, आदेशों का पालन करना सीखता है। इस प्रकार वह अपनी दुर्बलताओं को गहराई से समझने लगता है। तब उसे आश्चर्य होता है कि गुरु ने उस जैसे निकृष्ट व्यक्ति की मदद क्यों की। गुरु अपने संन्यासियों पर उनकी अपेक्षाओं और योग्यता से कहीं अधिक अपनी कृपा और अनुग्रह की वर्षा करते रहते हैं। कुछ समय बाद जब संन्यासी में गुरु द्वारा असंख्य प्रकार से सम्प्रेषित मौन निर्देश निरन्तर परिलक्षित होने लगते हैं, तब गुरु की कृपा उसे स्पष्ट समझ में आने लगती है। गुरु कृपा के रूप में जो उपहार उसे प्राप्त होता है वह उसके अन्दर कृतज्ञता के ऐसे भाव को जाग्रत करता है जो इस जगत् में अद्वितीय है। गुरु की यह कृपा और मार्गदर्शन कठिन समस्याओं के बीच भी संन्यासी को एक आन्तरिक अवलम्बन प्रदान करते हैं। अब वह जानने लगता है कि गुरु ही वास्तविक संचालक हैं, वह तो मात्र एक माध्यम है।

महान् गुरुओं ने इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है कि आध्यात्मिक उपलब्धि केवल गुफाओं और पर्वतों की चोटियों पर होती है। वे अपने संन्यासियों को जटिल और कठिन परिस्थितियों में भी आन्तरिक सन्तुलन बनाये रखना सिखाते हैं। गुरु जानते हैं कि कठिन परिस्थितियों में प्राप्त किया गया आत्म-नियन्त्रण सर्वाधिक लाभप्रद और चिरस्थायी होता है। अध्यात्म में व्यावहारिक ज्ञान का ही महत्त्व होता है, क्योंकि उसके द्वारा ही मन का शुद्धिकरण और उन्नयन होता है।

गुरु संन्यासी को आश्रम में अपने साथ रहने की अनुमति देते हैं। वे उसके अहंकार के मुखौटे को उसके पास ही छोड़ देते हैं ताकि वह उसके साथ भी विभिन्न परिस्थितियों का सामना कर सके। लेकिन गुरु परोक्ष रूप से अन्ततः उसे उसके अहंकार से मुक्त करने के लिए तैयार करते रहते हैं। गुरु की एक हल्की-सी ठोकर से संन्यासी का अहंकार एक पल में ही अदृश्य हो जाता है।

कर्मों का क्षय

संन्यासी के कर्मों के क्षय के लिए गुरु अपना खेल खेलते हैं, जिसे 'गुरु माया' कहते हैं। वे संन्यासी के व्यक्तित्व को अच्छी तरह समझते हैं और कर्मों का क्षय करने के लिए उसे विभिन्न गतिविधियों में संलग्न कर देते हैं। गुरु उसे किसी प्रकार

के कर्मयोग में लगा देते हैं, जैसे, रसोईघर, बागवानी, छापाखाना या आश्रम की सफाई। हर तरह के कर्मयोग में भिन्न प्रकार की सजगता की आवश्यकता होती है, जिसका उपयोग आत्म-विश्लेषण के लिए किया जा सकता है। गुरु संन्यासी को कर्मयोग के क्रम में मौन रहने का निर्देश भी दे सकते हैं। संन्यासी के अन्दर गहराई में दबे संस्कारों को सतह पर लाने का यह एक प्रभावकारी उपाय है जिसके द्वारा उसे अपने कर्मों का क्षय करने में मदद मिलती है।

इस प्रकार संन्यासी को विभिन्न प्रकार के कार्य देकर गुरु यह समझ जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से कौन-से कार्य के द्वारा वह अपने कर्मों का क्षय कर पायेगा। संन्यासी अपनी सुप्त प्रवृत्तियों को एक योग शिक्षक, लेखक, गायक, शोधकर्त्ता, माली, रसोइया, प्रबंधक या सचिव जैसी भूमिकाओं में प्रकट कर सकता है। इस प्रकार संन्यासी जब गुरु की सेवा करता है तो बिना नये कर्मों का संचय हुए, पुराने कर्मों का क्षय होता जाता है। दैनिक कामकाज के माध्यम से अपने सुप्त संस्कारों को प्रकट कर संन्यासी उच्चतर साधना के लिए आधार तैयार कर लेता है।

गुरु सेवा द्वारा जैसे-जैसे संन्यासी के कर्मों का क्षय होता जाता है, वह अधिक शान्ति और वैराग्य का अनुभव करता है। जब मन एकाग्र एवं स्थिर हो जाता है तब वह अधिक गहराई से और अधिक देर तक ध्यान कर सकता है। संन्यासी का मन एक स्वच्छ दर्पण की तरह हो जाता है जिसमें गुरु की शिक्षा प्रतिबिम्बित होने लगती है।

संगठनात्मक कार्य

गुरु का सेवक बनकर ही संन्यास जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है। जो संगठनात्मक कार्य तुम्हें सौंपे गये हैं, उन्हें अपने संकल्प का अंग मानकर बिना कोई प्रश्न किये सुनिश्चित ढंग से करते जाओ। स्वयं को गुरु के प्रति पूर्णतया समर्पित कर दो और उन्होंने जो कार्य दिया है उसे अपने हित में सर्वोत्तम मान कर एकनिष्ठ होकर करते जाओ। संगठन का कोई भी कार्य छोटा या बड़ा, हीन या श्रेष्ठ नहीं है। गुरु हमेशा संन्यासी की कार्य के प्रति दत्तचित्तता, उसके आशय और उसके समर्पण का मूल्यांकन करते हैं, जबकि संन्यासी अपने कार्य को ही अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है।

समय-समय पर गुरु संन्यासी को एक काम से दूसरे काम में लगा सकते हैं। इस प्रकार के कार्य-परिवर्तन से अपनी दुर्बलताओं और अपनी प्रतिभाओं के विषय में संन्यासी अधिक जान पाता है। निष्ठापूर्वक संगठनात्मक कार्य करने से संन्यासी की प्रतिभाएँ और साथ ही उसके संस्कार प्रकाश में आते हैं। उन्हें जानने के बाद वह गुरु की सेवा में उनका उपयोग सरलतापूर्वक कर सकता है। गुरु-सेवा शान्ति और सन्तोष प्रदान करती है तथा संन्यास के पथ को निश्चित रूप से बाधामुक्त करती है। गुरु की कृपा वह प्रकाश है जिसे प्राप्त करने के लिए संन्यासी को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि इसी के द्वारा सत्य उद्भासित होता है। ■

गुरु–भूमि भारत

स्वामी सत्यसंगानन्द सरस्वती

भारत विश्व को क्या प्रदान कर सकता है? यह प्रश्न आजकल बार-बार पूछा जाता है। तकनीकी विकास के इस युग में, जब दुनिया के प्राय: सभी देश शक्ति, सम्पन्नता और सैनिक वर्चस्व की होड़ में लगे हुए हैं, ऐसा लगता है कि भारत की कोई भूमिका नहीं हो सकती। तथापि ऐसे लोगों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ रही है, जिनका वर्तमान भौतिक संसार से मोह भंग हो रहा है।

वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि अत्यधिक तकनीकी विकास के कारण लोगों की भौतिक उन्नति हुई है, किन्तु वे स्पष्ट रूप से यह भी अनुभव कर रहे हैं कि इस प्रक्रिया में आदमी के आन्तरिक या आध्यात्मिक पहलुओं की पूर्णरूपेण अवहेलना हुई है। भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के बीच का सन्तुलन नष्ट हो गया है। परिणामस्वरूप आज मानव अपने को निराशा के बीहड़ों में फँसा हुआ पा रहा है। भारत का महत्त्व इस बात में निहित है कि वह इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करे।

पश्चिमी देशों में भी समय-समय पर ज्ञानयुक्त आध्यात्मिक पुरुष प्रकट हुए हैं, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्हें दु:खद एवं निर्दय भाग्य का शिकार होना पड़ा। उन्हें अपनी साधुता के कारण जिन्दा जलाया गया, सूली पर लटकाया गया तथा तरह-तरह की अमानवीय यातनाएँ दी गईं। मरणोपरान्त उनकी महानता का गुणगान क्या उनके प्रति किये गये अन्याय को न्याय में बदल सकता है?

भारत में ईसा मसीह जैसे व्यक्ति की पूजा होती तथा उनके जीवनकाल में ही उनके प्रति ईश्वर जैसा व्यवहार हुआ होता। उन्हें महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, तथा उनके पूर्व और बाद में पैदा हुए सन्तों की तरह सम्मान मिला होता। भारत की आध्यात्मिक परम्परा बहुरंगी और समृद्ध रही है, क्योंकि यहाँ के लोग प्रबुद्ध एवं ज्ञानी सन्तों को आसानी से पहचान लेते हैं तथा उन्हें उचित सम्मान देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की तरह प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में भी एक केन्द्रीय तत्त्व होता है। यह प्रधान स्वर के समान होता है जिससे अन्य सभी स्वरों को संगत या समस्वरित किया जाता है। यह तत्त्व राष्ट्र के जीवन का आधार होता है। इसमें परिवर्तन लाने के प्रयास करने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है। कुछ राष्ट्रों में राजनैतिक शक्ति ही केन्द्रीय तत्त्व या जीवनी-शक्ति होती है, किन्तु भारत का केन्द्रीय तत्त्व उसके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण में निहित है।

इतिहास में एक ऐसा युग भी था जबकि योग एक विश्व संस्कृति था। कोलम्बिया के सान अगस्तीन नामक स्थान में खुले आसमान के नीचे एक संग्रहालय है। वहाँ की मूर्तियों को देखकर पता लगता है कि उस देश की प्राचीन सभ्यता के

युग में वहाँ के लोगों को योगासनों का पूर्ण ज्ञान था। स्कैन्डिनेवियन देशों में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में वहाँ के लोग योग का अभ्यास करते थे। किन्तु युद्धों, राजनैतिक एवं धार्मिक दुर्घटनाओं तथा प्राकृतिक विध्वंसों के कारण ये अभ्यास पहले तो गुप्त होते गये और बाद में पूर्णत: नष्ट हो गये।

ऐसा भारत में भी हुआ, किन्तु यहाँ सदैव कुछ ऐसे लोग हुए जिन्होंने इस ज्ञान को सुरक्षित रखा तथा इसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते गये। वे महापुरुष थे भारत के जाने-अनजाने संन्यासी, स्वामी और यति। भारत के लोग राष्ट्र की आध्यात्मिक उन्नति के सन्दर्भ में इन स्वामियों की भूमिका को आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मानते थे। इसलिए उन्होंने राजनैतिक एवं धार्मिक संकट के दिनों में उनके भोजन-वस्त्र-आवास की पर्याप्त व्यवस्था की। सामाजिक स्थायित्व स्थापित होने के बाद वे खुलकर अपने ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने लगे। इन्हीं कारणों से भारत में आज भी आध्यात्मिक शक्ति की एक समृद्ध एवं सशक्त परम्परा विद्यमान है।

किन्तु मनुष्य इस शक्ति का उपयोग करने के लिये अभी भी पूर्णत: तैयार नहीं है। यह सोचकर आश्चर्य होता है कि यदि भविष्यवाणी के अनुसार द्वितीय ईसा मसीह का अवतार हुआ तो उनकी क्या गति होगी। मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि इतिहास अपने को दुहरायेगा। उनकी शिक्षा पुन: स्थापित व्यवस्थाओं का खण्डन करेगी। सत्य का कोई भी अनुगामी धर्म के नाम पर प्रचारित ढोंग और पाखण्ड के विरुद्ध अवश्य आवाज बुलन्द करेगा।

इसलिए जैसा कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ, लोग उनकी शिक्षा को सही रूप से ग्रहण नहीं कर सकेंगे। वही गलतियाँ दुहराई जायेंगी। लोग उनका मजाक

उड़ायेंगे, उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ देंगे, उनकी हत्या की जायेगी और उनकी मृत्यु के बाद वही लोग उनकी पूजा करेंगे। कैसी विडम्बना है यह?

हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम अपने मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करें। हमारे लिये यह जानना भी आवश्यक है कि इस पृथ्वी पर हमारा जन्म क्यों हुआ है। हमें निरन्तर उस मार्ग की खोज जारी रखनी है जिस पर चलकर हम सभी क्षेत्रों में विकास कर सकें। हमें प्रत्येक व्यवस्था को स्वीकार और अस्वीकार करते जाना है जब तक कि सही व्यवस्था नहीं मिल जाती। यदि वर्तमान व्यवस्थाएँ हमारे लिये लाभदायक हैं तो हमें हर प्रकार से उन्हें स्वीकार करना चाहिये। किन्तु आज हम अपने चारों तरफ वर्तमान दर्शन की विफलता को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। आज सामान्य आदमी अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। जब हम अपने जीवन की त्रुटियों के प्रति सजग होते हैं, जब हम अनुभव करते हैं कि हमारे जीवन में मार्गदर्शन का अभाव है और जब हमारी चेतना एक उच्चतर स्तर तक विकसित हो जाती है, तब हम गुरु की खोज में निकल पड़ते हैं। इस क्षेत्र में भारत के साथ अन्य किसी राष्ट्र की तुलना नहीं हो सकती। भारत तो गुरुओं की ही भूमि है। ■

मरण व्याघ्र

'महाराज! आपके जीवन में कितनी शुचिता, कितनी दिव्यता है! क्या हमारा जीवन भी ऐसा ही निष्पाप नहीं हो सकता?' महाराष्ट्र के महान् संत और गुरु एकनाथ से एक व्यक्ति ने पूछा।

'अरे भाई! मेरी बात छोड़ो। अभी तो मैं तुम्हारी चिंता कर रहा हूँ। अगले सात दिनों में तुम्हारी मृत्यु होने वाली है,' संत ने कहा।

यह सुनते ही वह व्यक्ति अपनी सुध-बुध खो बैठा। भागे-भागे गया अपने घर। तुरंत लेन-देन का हिसाब निपटाया। जो अधूरे कामकाज शीघ्र पूरे हो सकते थे, पूरे किये। शेष की भी समुचित व्यवस्था की। फिर अस्वस्थ हो गया और बिस्तर पर लेटना पड़ा। तब तक छः दिन बीत चले थे। सातवें दिन एकनाथ महाराज उससे मिलने आए। अभिवादन आदि के बाद संत एकनाथ ने कुशलक्षेम पूछी तो वह कह उठा, 'बस अब तो चला। आपकी दया बनी रहे तो शुभ गति होगी।'

एकनाथ जी ने पूछा, 'अच्छा यह बताओ, इन छः दिनों में पाप कितने किए?'

'महाराज! पाप का तो विचार भी करने का अवकाश नहीं मिला।'

संत एकनाथ मुस्कुरा उठे। बोले, 'अब समझ गए हमारा जीवन निष्पाप क्यों है? मरण व्याघ्र सामने खड़ा हो, तो पाप का विचार कहाँ से आएगा? मरण का निरन्तर स्मरण रहे तो पाप की ओर मन जा ही नहीं सकता।'

The Happiness that I Seek

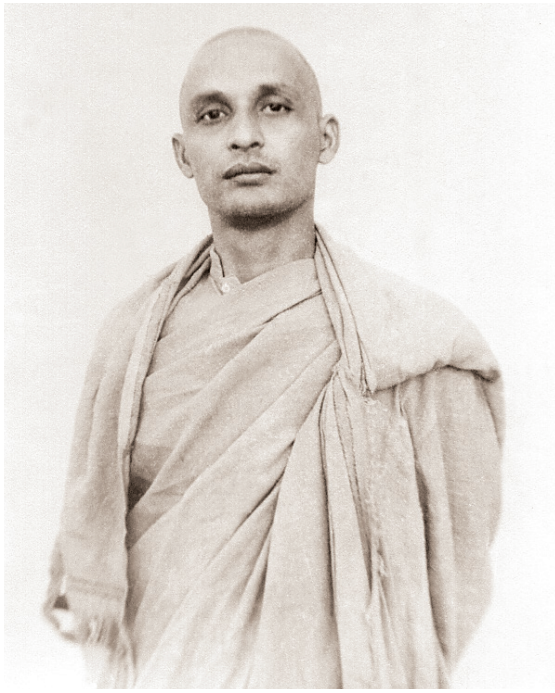

What is the happiness I seek?
Not to win the race
But to understand the face of failure.
For through it I have learned to run
And not to fear the doubts of my mind.
It is they that have shown me
Where the road lies narrow and hardest to pass.
Through the forces of the world around me,
Even when I feel tired and oppressed,
I shall find the way to increase my own strength
And stand in awe of the pattern of the universe.

—*Swami Satyananda*

Keep the Wire Clean

Swami Niranjanananda Saraswati

You have the tools, you only have to protect what you sow. You have the strength, you only have to protect what you sow and not allow the influences of ego, arrogance, jealousy and hatred to dismember the positive sankalpa that you have taken to uplift your life.

There are disciples who dismember their commitment and sankalpa. There are disciples who, due to their arrogance, ego, hatred and jealousy, stand up against the guru as well and defame the guru. Why? Because the guru has the strength and the courage to say what they are doing is wrong. Instead of correcting their own actions, the disciple stands against the guru, as that connection of faith has accumulated the carbon of ambition, desire, power and greatness. That ego makes the disciple think, 'I can throw a challenge at my guru also,' and that disciple says the guru is bad. They have lived with the guru for forty years, so why after forty years are they saying that he is bad? Why did they not say it after one year or two years? Were they blind?

If your ambitions are not fulfilled does your husband or wife suddenly become bad after fifty years? The same applies here. After fifty years, the guru becomes bad. Even after fifty years, forty years, thirty years, twenty years people divorce their husband or wife, and also their gurus. They forget that what they have become is due to the grace of the guru, that the recognition they have received is due to the grace of the guru, and that people have connected with them due to guru. If they'd had that much strength on their own, they would not have needed the guru; people would have flocked to them. It is due to the misuse of their connection with guru and not protecting the true intention that the path of the disciple is diverted.

Therefore, to derive the maximum benefit from this Guru Poornima, ensure that your connection, your wire of faith, is clear and free of all carbon. Only then will the light of guru shine through you. Otherwise, if you allow the carbon to accumulate on your wire of faith, you will be left scratching your head, wondering why all the other bulbs are shining and you are flickering.

– Guru Poornima 2013, Ganga Darshan, Munger

Ego in the Disciple

Swami Satyasangananda Saraswati

The disciple's ego stands as the main obstruction between him and the truth. It is the ego which causes him to stumble time and again on the spiritual path. It is the ego which causes him to lose his faith, devotion, humility and one-pointed dedication. Ego is the root cause of all ignorance. It is the maya or web that has been cast upon human beings. If this ego is not checked by the disciple, it will spread like a cancer and overpower him. In spiritual life there is no place for the ego.

In worldly life, we use the ego to counteract the influences of other people. In fact, if we did not possess an ego, it would be difficult to survive. In our day to day life we encounter many people who have only their own progress in mind, and they do not hesitate to exploit others for their own benefit. We use our egos to counteract such encounters. It is because of our sense of individuality that we react. If we did not have an ego, we would not care if someone was dishonest and cheated us, we would simply accept it. If this were to happen while interacting with the world, the egoless person would be crushed.

The ego is present to be used as a brake. The brakes in the car are to prevent accidents and to keep it under control, but if one never takes one's foot off the brake, the car will not move. Therefore, in order to progress in spiritual life, it is necessary that this brake, the ego, be used as little as possible. In interactions with others, disciples should suppress the ego and remain a witness to all that is going on inside. In this way, they will become aware of the ways in which the ego operates, and become accomplished in combating it without doing any serious damage to themselves.

However, in their relationship with the guru, disciples must eliminate the ego completely. There is no place for ego before the guru. What is the point of using your ego towards someone whose only interest is your spiritual upliftment? Guru's motives are not guided by base and vile intentions; he wishes only the best for his disciple. The disciple may misunderstand the intentions, but then the fault lies with the disciple, not the guru. If the disciple allows his ego to get the better of him in his relationship with the guru, then the relationship will be seriously damaged. Using ego to combat the guru is tantamount to burning a rope, mistaking it for a snake.

The guru is fully aware of this discrepancy in the disciple's personality and often performs what could be called an 'egodectomy'. Just as a surgeon performs an operation to remove a cancerous growth from the patient, in the same

way the guru operates on the disciple's ego. The success of the operation depends upon both guru and disciple. The guru must be very skilled and the disciple must possess the ability to regain strength and faith after the operation.

Another danger that awaits every disciple is the sense of superiority which many develop because of their success in carrying out their guru's mission. Very often disciples become arrogant and conceited and think that the success is due to their own efforts. They forget that it is only due to the guru's guidance that they have been able to evolve their consciousness, which in turn has enabled them to act positively and successfully. At times, they may even believe that they are greater than the guru. If they continue to hold these beliefs, they are soon crushed by their ego, and fall victim to the maya.

Ego is a very subtle element. It is difficult, almost impossible to grasp or understand the ways in which it spreads its tentacles. To combat it, disciples must be very alert at all times. It will overtake them if they are caught napping. Disciples must remain forever a witness to their mind. They must assess their reactions, their motives, their circumstances, with the same detachment a coffin bearer would have for the coffins he carries all day and night.

The ego can rear up in the strangest circumstances. Even the act of renunciation could be an act of the ego. There is little purpose in renouncing your material pleasures for sannyasa and then developing the same attachment, neurosis and fixation in your attitude towards spiritual life. This is why it is often said that true renunciation comes from within. Ultimately, one has to renounce even the act of renunciation.

In the traditional sannyasa ceremony, the disciple chants mantras and pledges to renounce, not only the manifestation of the ego in the gross body, but the threefold ego which exists in the gross, subtle and causal form. Ego is the seed of individuality which separates the guru and disciple.

– *Extracted from* Light on the Guru and Disciple Relationship

गुरु भक्ति योग पर सत्संग

मृत्युंजय गुरु

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

योग शास्त्र में कहा जाता है कि शरीर में ब्रह्म ग्रंथि, विष्णु ग्रंथि एवं रुद्रग्रंथि–ये तीन ग्रंथियाँ हैं और अध्यात्म में आगे बढ़ने के लिये इन तीन ग्रंथियों को भेदना आवश्यक होता है। ये तीन ग्रंथियाँ हमें इस संसार से बाँधकर रखती हैं। ये हमें मोह, माया, काम, इच्छा, वासना, क्रोध, मूढ़ता, आलस्य और प्रमाद जैसी अलग-अलग अवस्थाओं का अनुभव दिलाती हैं। जीवन में ऊर्जा, शान्ति की खोज, पुरुषार्थ और कर्मकौशल जैसी सकारात्मक अभिव्यक्तियों के भी केन्द्र यही हैं। अच्छाई और बुराई, दोनों का सम्बन्ध इन तीन ग्रंथियों से होता है। इन्हीं को कहा जाता है माया और आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने के लिये इन तीन ग्रंथियों को भेदना आवश्यक होता है।

लोग योगाभ्यास करते हैं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से या थोड़ा बहुत तनावमुक्त होने के लिए, पर यह योग साधना का लक्ष्य नहीं है। स्वास्थ्य के लिये योग को व्यवहार में लाना हमारी अपनी इच्छा है, लेकिन हमारे ऋषियों-मनीषियों ने योग साधना के बारे में कुछ और सोचा है। जीवन को सुधारने के लिये, जीवन की चंचलता को शान्त करने के लिये, जीवन की दुर्बलता को दूर करने के लिये उन्होंने योग साधना को माध्यम बनाया। जो लोग साधनात्मक पक्ष को जानने और आत्मसात् करने का प्रयास करते हैं उन्हें यह समझना चाहिये कि योग जैसी विद्या और अनुशासन का सम्बन्ध मात्र स्वास्थ्य से नहीं है, बल्कि ग्रंथि भेदन से है। उस भेदन से फिर मन में सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न होती है और यह ऊर्जा हमें विषयों के आकर्षण से हटाकर आत्माभिमुख करती है। आत्माभिमुख होने के पश्चात् संसार के बंधन कम होते हैं। योग का यही रहस्य है।

अभी हमलोगों ने योग को गहराई से नहीं समझा है, बल्कि योग को केवल अपने स्वास्थ्य का साधन माना है। योग से पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिये इसे साधना के रूप में जानना-समझना अवश्यक है। यही शिक्षा हमारे गुरु, श्री स्वामी सत्यानन्द जी ने दी और यही उन्होंने अपने जीवन में किया भी–तीन ग्रंथियों का भेदन। जो इन तीन ग्रंथियों को भेद सकता है वह मृत्युंजय कहलाता है। जिस ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की हो, जो स्वेच्छा से जीवन परिवर्तन कर सकता हो, जो स्वेच्छा से अपनी आत्मा को दूसरे शरीर में डाल सकता हो, जो स्वेच्छा से मृत्यु के पश्चात् पुनः नया शरीर धारण कर सकता हो, ऐसा व्यक्ति सिद्ध होता है क्योंकि मृत्यु उसके लिये फिर अन्त नहीं, बल्कि जीवन के दूसरे आयाम में प्रवेश है। अनेक साधकों ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा ऐसी क्षमता प्राप्त की है और सिद्ध कहलाये हैं।

हमें लगता है कि अगर हम अपने गुरुजी के पास नहीं रहते, अगर हम उन्हें नहीं जानते तो आज हमारे लिये भी योग मात्र एक शारीरिक क्रिया होती जैसे समाज में सब लोगों के लिये है। लेकिन अपने गुरुजी को जानने के पश्चात्, उनके जीवन का साक्षी बनने के पश्चात् हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि उन्होंने अपने जीवन में तीन ग्रंथियों का भेदन किया था। वे एक ऐसे साधक थे जिन्होंने योग को आत्मसात् किया और योग को आत्मसात् करने का परिणाम यह कि वे मृत्युंजय हुए।

हमलोग महाभारत में पढ़ते हैं कि भीष्म पितामह को इच्छा मृत्यु का वरदान प्राप्त था और उन्होंने उस वरदान का प्रयोग भी किया। रणभूमि में गिरने के पश्चात् भी उत्तरायण की प्रतीक्षा की। सोचो उनकी कितनी जबरदस्त संकल्प शक्ति रही होगी कि शरीर से पूरा लहू निकल चुका है, फिर भी वे जीवित हैं, उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे हैं और सामान्य रूप से बातचीत भी हो रही है। इसी प्रकार और भी लोगों का नाम आता है जिन्हें इच्छा मृत्यु या आत्मा को शरीर से अलग करने की क्षमता थी। आदि शंकराचार्य में यह क्षमता थी, उन्होंने परकाया प्रवेश किया। भारत में और भी ऐसे सिद्ध-महात्मा थे जिनकी अनेक प्रकार की उपलब्धियाँ रही हैं, लेकिन इन उपलब्धियों को समाज में चमत्कार के रूप में प्रदर्शित न करके उन्होंने इन उपलब्धियों का एक आध्यात्मिक सम्पदा के रूप में संरक्षण किया, उसे अपने जीवन में उन्नत किया, विकसित किया।

ऐसी गिनी-चुनी विभूतियों में हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी भी थे। चालीस के दशक में एक बार कल्याण पत्रिका का योग विशेषांक छपा था। उसमें एक सिद्ध

पुरुष ने लिखा था कि अपने देश में परकाया प्रवेश को जानने वाले सिद्धों में दो-तीन गिने-चुने लोग हैं जिनमें एक स्वामी सत्यानन्द सरस्वती हैं जो स्वामी शिवानन्द जी के शिष्य हैं। उस समय से साधुओं और तपस्वियों को मालूम था कि हमारे गुरुजी में कौन-सी प्रतिभायें छिपी हैं। उन प्रतिभाओं को उन्होंने कभी उजागर नहीं किया, बल्कि हमेशा एक सरल, सहज मनुष्य के रूप में रहे। कोई आडम्बर नहीं, कोई दिखावा नहीं। मुंगेरवासियों को याद होगा कि आरम्भ के दिनों में आश्रम की जब पेन्टिंग होती है तो हम ही लोग घिसाई किया करते थे ताकि मजदूर न लगाना पड़े और पैसा बचे। जब दीवार को घिसते थे तो चूने और रामरस की धूल पूरे शरीर पर पड़ती थी। सब लोग सफेद या पीले दिखते। इसी दौरान मुंगेर के कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति स्वामीजी से मिलने आए। आकर गुरुजी से ही पूछा कि हम स्वामी सत्यानन्द जी से मिलने के लिये आये हैं। लोग सोचते थे कि स्वामीजी बड़े ठाठ से रहने वाले कोई महंत होंगे। उस समय स्वामीजी का पूरा शरीर धूल से भरा है। स्वामीजी ने सज्जन से कहा, 'आप थोड़ी प्रतीक्षा कीजिये। हम जाकर खबर करते हैं।' हाथ, पैर, मुँह धोकर लौटे और बोले, 'कहिये, क्या सेवा करूँ? मैं ही स्वामी सत्यानन्द हूँ।' उस आदमी ने एक बार उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा। शायद मन में यही सोच रहे होंगे कि मजदूर जैसा काम कर रहा है और कहता है कि यही स्वामी सत्यानन्द है!

इस प्रकार का सहज, सरल, निष्कपट और निश्छल जीवन रहा श्री स्वामीजी का। उनके जीवन में हमने बहुत चीजों को जाना और समझा, लेकिन प्रथम चीज जो हमने देखी वह थी उनकी सरलता और सहजता। बूढ़े के साथ बूढ़े जैसा, बच्चे के साथ बच्चे जैसा, डॉक्टर के साथ डॉक्टर जैसा, दार्शनिक के साथ दार्शनिक जैसा व्यवहार। अभी हाल में हम जब केदारनाथ गये थे तो वहाँ पर एक सिद्ध वैष्णव संत से मिले। उन्होंने हमसे श्री स्वामीजी के बारे में पूछा कि कैसे हैं। हमने कहा, गुरुजी ने तो समाधि ले ली है। एक क्षण के लिये वे स्तम्भित हो गये, आँखें बन्द कर लीं। फिर आँखें खोलकर कहा कि इस युग में स्वामी सत्यानन्द जी ही एक ऐसे संन्यासी रहे हैं जिन्होंने सभी धर्मों और कर्मों का पालन किया है। कोई धर्म या कर्म उनसे अछूता नहीं रहा। जब उन्होंने यह बात कही तो हमने भी मन में सोचा कि निश्चित रूप से ऐसा ही हमने देखा है, अनुभव किया है।

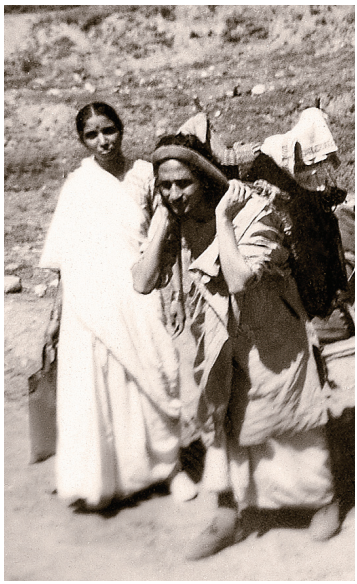

उनकी विद्वत्ता, उनकी दिव्यता वास्तव में उनके जीवन की सरलता में दिखलाई देती थी। वे कहते थे कि मेरी लक्ष्मी, मेरी सरस्वती, मेरी दुर्गा तो सड़क पर झाड़ू लगाती है, धनी लोगों के कपड़े साफ करती है। मैं उस देवी की आराधना करूँगा जो मेरे सामने जीती-जागती खड़ी है। मैं उस पाषाण मूर्ति की आराधना क्यों करूँ जिसे मेरी आवश्यकता नहीं है? यही भाव उन्होंने अपने जीवन में हमेशा रखा और उसका परिणाम आज हम रिखिया में देखते हैं। वहाँ उन्होंने आत्मभाव की शिक्षा दी और कहा कि हर व्यक्ति में ईश्वर को देखो। ईश्वर और मनुष्य एक-दूसरे से अलग नहीं हैं। ईश्वर मनुष्य के अनुभव का साक्षी है, गवाह है और भोक्ता भी है। इसलिये अगर कोई व्यक्ति बीमार है तो उसके भीतर का ईश्वर भी बीमार है। अगर कोई व्यक्ति दु:खी है तो उसके भीतर ईश्वर भी दु:खी है। यह मत सोचना कि ईश्वर तुम्हारे जीवन के भाग्य और दुर्भाग्य से अलग है। नहीं, वह तुम्हारे भीतर बैठा है, तुम जो कुछ अनुभव कर रहे हो वही अनुभव ईश्वर को हो रहा है।

इसीलिये श्री स्वामीजी कहते थे कि मैं सड़क पर झाड़ू लगाती मेहतरानी को अपनी देवी मानता हूँ और मैं उसकी आराधना करूँगा। मेरी सरस्वती घर में दाई का काम करती है, मैं उसकी आराधना करूँगा। आत्मभाव के माध्यम से उन्होंने उस दिव्यता को हर व्यक्ति में देखने के लिये हमलोगों को प्रेरित किया। *सीयराममय सब जग जानी, करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी*– बहुतों के लिये यह एक सिद्धान्त या दर्शन हो सकता है, लेकिन स्वामीजी ने अपने जीवन में इस सिद्धान्त को जीकर हमलोगों को भी इसे जीने के लिये प्रेरित किया।

अन्त में उन्होंने समाधि में प्रवेश करके अपने प्राणों का त्याग किया। पहले तो केवल किताबों में पढ़ते थे कि आदिकाल में ऋषि-मुनि ॐ का उच्चारण करते हुए समाधि को प्राप्त करते थे। सोचते थे कि आज ऐसा उदाहरण कहाँ है, क्योंकि सभी साधुओं को अस्पताल में हाय-हाय करते जाते देखा है। अपने जीवन काल में कोई ऐसा साधु नहीं देखा जिसने समाधि में अपने प्राणों को स्वेच्छा से छोड़ा हो। पहली बार अपने गुरुजी को देखा कि किस प्रकार एक साधु स्वेच्छा से, गुरु एवं भगवान को प्रार्थना करके, मुँह में गंगा जल और तुलसी दल रखकर कहता है कि अब मेरे जाने का समय आ गया है, मैं जा रहा हूँ। पद्मासन में बैठकर ॐ का उच्चारण करते हुए प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र से निकाला। उन्होंने मृत्यु का आवाहन किया, स्वेच्छा से अपने प्राणों को त्यागा, अपने संकल्प के बल से इस संसार से स्वयं को अलग किया और शिव तत्त्व से एकाकार हुए।

यह घटना घटी थी 5 दिसम्बर 2009 को और 6 दिसम्बर को उन्हें धरती माँ की गोद में रखकर भू-समाधि प्रदान की गई। इसलिए हर महीने की 5 और 6 तारीख को हमलोगों ने उनकी स्मृति में समर्पित किया है। 5 तारीख को उन्होंने शिवत्व

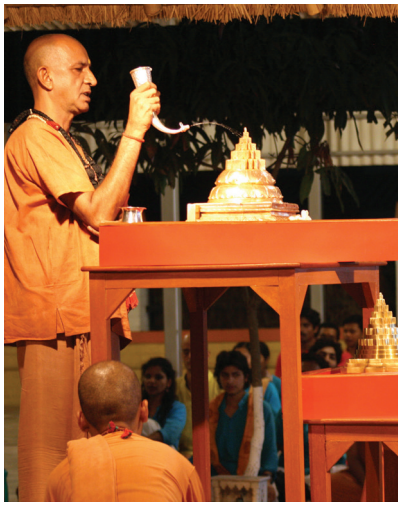

को प्राप्त किया, इसलिये उस दिन रुद्राभिषेक का कार्यक्रम होता है और 6 तारीख को जब प्रकृति ने उन्हें अपने आँचल में समेटा, तब श्रीयंत्र अभिषेक का कार्यक्रम होता है। शिवलिंग शिव का प्रतीक है और श्रीयंत्र शक्ति का। इन दोनों की आराधना के माध्यम से हम अपने गुरुजी को याद करते हैं और साथ ही इस समय हम बतलाते हैं कि उनका व्यक्तित्व, चरित्र और आचरण कैसा था, उनके जीवन का प्रयोजन, लक्ष्य और उद्देश्य क्या था, उन्होंने हमलोगों के लिए क्या-क्या शिक्षा दी है।

लोग कहते हैं कि गुरु का तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो हमें अज्ञान के अंधेरे से ज्ञान के प्रकाश में ले जाए। ठीक है, एक परिभाषा के रूप में हम इसे स्वीकार करते हैं, लेकिन वास्तविकता में कभी ऐसा होता नहीं है। ज्ञान तो कोई भी एक घंटा प्रवचन देकर दे सकता है, लेकिन प्रश्न उठता है कि हमने उस ज्ञान को कितना ग्रहण किया। क्या हम अपने जीवन में उस ज्ञान या शिक्षा को जीते हैं? इतने सालों में मेरा अनुभव तो यही रहा है कि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में उस शिक्षा को नहीं जीता है। न संन्यासी, न गृहस्थ। सब अपनी महत्त्वाकांक्षा को जीते हैं। करोड़ों में शायद कोई एक-आध माई का लाल होता है जो गुरु की शिक्षाओं को जीता है और उन्हें प्रसारित करता है। लेकिन वह करोड़ों में एक है। बाकी सब गुरु से आकर्षित जरूर होते हैं, लेकिन उनकी शिक्षा को जी नहीं सकते हैं। मैं इस बात को सबके सामने बेधड़क कह सकता हूँ क्योंकि रोज देखता हूँ कि किस प्रकार लोग एक शिक्षा से अपने आपको अलग करते हैं। अगर लोगों से कहें कि 24 घंटे प्रसन्न रहो तो नहीं रह पाते हैं और चाहते हैं कि समाधि का आनन्द लूटें! एक दिन भी अपने मन को अगर प्रसन्न नहीं रख सकते तो समाधि का आनन्द क्या लूटोगे?

एक समय जब मनुष्य का स्वभाव अलग था, तब लोग गुरु की शिक्षाओं पर चलने के लिये मरते थे। उस समय गुरु का एक वाक्य ही व्यक्ति के लिये ब्रह्मवाक्य होता था। अब गुरु का वाक्य ब्रह्मवाक्य नहीं रहा। उसकी पुष्टि दस लोगों से की जाती है कि मेरे गुरुजी ने ऐसा कहा है, सही कहा है या गलत? जब गुरु में श्रद्धा और विश्वास ही नहीं तब फिर दीक्षा लेने और गुरु बनाने का आडम्बर हम क्यों करते हैं?

इसलिये हमने गुरु शब्द की एक नयी परिभाषा दी है। गुरु वह है जो जीवन को एक लक्ष्य देता है और जो उस लक्ष्य की ओर जाता है उसे कहते हैं शिष्य। चेला तो अपनी महत्त्वाकांक्षा को लेकर आता है। मेरा यह काम कर दो, एक किलो लड्डू चढ़ा दूँगा, उसके बाद मैं चला। ऐसे व्यक्ति को कहते हैं चेला। वह दस लोगों के पास जायेगा और पूछेगा, मुझे कौन-सा तंत्र-मंत्र करना चाहिये? कोई बोलेगा हनुमान जी का पाठ करो, कोई बोलेगा रामजी का पाठ करो। अंत में वह मेरे पास आयेगा और पूछेगा, मुझे दस लोगों ने दस चीजें कही हैं, मुझे क्या करना चाहिये। ऐसे लोगो को कहा जाता है चेला, लेकिन जो शिष्य होता है वह समर्पित होता है। वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर नहीं आता, बल्कि गुरु के प्रयोजनों का एक अभिन्न अंग बनता है। यह है समर्पण की स्थिति, जिसे हमने अपने गुरुजी के जीवन में स्पष्ट रूप से देखा है।

गुरु वह होता है जो लक्ष्य देता है और शिष्य वह होता है जो उस लक्ष्य की ओर मुस्कुराते हुए बढ़ता है। जो हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाए, अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाए—गुरु की यह व्याख्या केवल दर्शन तक सीमित रह गई है, क्योंकि गुरु के उस ज्ञान को आत्मसात् तो कोई करता नहीं। मुख्य बात यही है कि हम किस प्रकार गुरु की शिक्षाओं को आत्मसात् करें। यह चिंतन हमें करना है, और इसी चिंतन से हम इस मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं। अपनी महत्त्वाकांक्षा को लेकर तो हम मार खा ही रहे हैं, समाज में भी और अध्यात्म में भी। अध्यात्म महत्त्वाकांक्षा के साथ चलता नहीं है और जब तक महत्त्वाकांक्षा है समर्पण होता नहीं। समर्पण सिद्ध हो जाए तो साधुता सिद्ध होती है, पर समर्पण सिद्ध न हो तो मनुष्य छल-कपट के मार्ग पर चला जाता है। इसलिए हर व्यक्ति को सोचना चाहिये कि मैं विद्या को, शिक्षा को किस प्रकार आत्मसात् करूँ, क्योंकि अन्त में सुख और शान्ति की उपलब्धि विद्या को आत्मसात् करने से ही होगी। यही हमारे गुरुजी के जीवन की शिक्षा रही है।

—6 जून 2016

गुरु भक्ति योग पर सत्संग – *गुरु भक्ति योग श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती की स्मृति को समर्पित मासिक साधनात्मक अनुष्ठान है। श्री स्वामीजी 5 दिसम्बर 2009 को महासमाधि में लीन हुए थे और 6 दिसम्बर को उन्हें रिखियापीठ में विधिवत् भू-समाधि दी गई थी। प्रत्येक महीने की 5 और 6 तारीख को सत्यम् उद्यान में आयोजित इन अनुष्ठानों के माध्यम से श्री स्वामीजी के शिव और शक्ति तत्त्वों से संयोग को मनाया जाता है। इस साधना के दौरान स्वामी निरंजनानन्द जी द्वारा दिए सत्संगों में एक विशेष ऊर्जा और प्रेरणा रहती है जो श्रोताओं के हृदय को अनायास छूकर उन्हें श्री स्वामीजी के और समीप ले जाती है।*

GURU BHAKTI YOGA

The Point of Experience

Swami Niranjanananda Saraswati

Every fifth and sixth of the month are celebrated in the Akhara at Ganga Darshan in two ways. One, there is the invocation and worship of the Shiva tattwa and two, there is the invocation and worship of Shakti tattwa. Both are used to connect us with the guru tattwa.

The Akhara is dedicated to three personalities and three peeths have been created here for them: Shiva Peeth, dedicated to Shiva; Shakti Peeth, dedicated to Shakti; and Guru Peeth, dedicated to guru. These three complete the family of an individual.

Three people have an important role to play in anybody's life: father, mother and guru. They are the cause of one's birth in the material world and in the dimension of understanding, knowledge and wisdom. Only when the blessings of the three have been received can one embark on the journey of life with the blessings of auspiciousness from Sri Ganesha. As it has been said:

Prathama manau matu pita guru jinhone janma aur vigyan diya.
Dwitiya manau Sri Ganapati ko phir apna Ramayana shuru kiya.

The role of father, mother and guru are recognized the world over, and more specifically in the Indian tradition. Father is symbolized in Shiva, the cosmic consciousness, and mother is symbolized in Shakti, the cosmic energy. Guru is the inspirer, one who teaches us to walk the path of dharma. Thus we invoke the Shiva tattwa with Rudrabhisheka and the Shakti tattwa with Sri Yantra aradhana.

To the uninitiated they may look like rituals that are part of an ancient religion, even the remnant of a bygone society and civilization. However, that is not the reality. These rituals indicate the experience of human consciousness, human mind

and human life. The attainment of Shiva tattwa means attaining the luminosity of consciousness, the effulgence of the total mind. The sentient being comes alive, and the barriers and the differences between the material and the spiritual dissolve. One lives the spiritual life in the material life. That should be the aspiration, the aim of any spiritual aspirant: to live the spiritual life in the material life. To live the life of *dharma*, righteousness, which allows you to explore and experience the purer levels of mind and consciousness.

What are the purer levels of mind and consciousness? They are the strengths and the positive qualities. Not the shortcomings and the weaknesses, but the positive qualities and strengths that assist the development and growth of the human nature and personality. That is the attainment of Shiva tattwa. Anything that allows you to grow in the righteous manner with right thinking, right behaviour and right action is dharma.

The ritual of Rudrabhisheka represents the experience of that dharma. After all, if you are attempting to realize something, it is the experience that comes first. After you have had the experience and the realization, your reverence and belief in it create a belief structure, tradition or system. Then the trappings come in, which make it look like a religion. However, the original experience was not religious, it was spiritual. The add-ons turn that experience into a system identified as a dogma, belief, philosophy or religion.

The Shiva upasana and the Shakti upasana, as mentioned in the tantras, bring us to the point of experiencing the

transcendental without the trappings or the pre-conditionings of the mind. This takes place through the use of the mantra and the symbols, and this has to be understood in the right perspective. Just as numbers can be read differently, the symbols can also be read differently. There has to be an understanding of what each symbol and each action means, as that indicates the process that you go through in your own mind and nature. Thus the abhishekas represent the teaching and learning of processes that allow one to explore the deeper levels of one's own mind.

The Sri Yantra represents the cosmic map. The eight aspects of *prakriti*, nature, are witnessed in it. The eight levels of triangles and the lotus petals represent the eight forms of prakriti, *ashta-prakriti*. They represent the emergence of creation: how the whole visible universe came into existence and how we became part of it. It is a depiction of the play of energy at the cosmic and the individual levels. It is an ancient vidya that allows one to explore the energy system responsible for the sustenance and maintenance of the body along with the manifest universal dimension. This *vidya*, knowledge, is now lost to people at large, as few people follow that path and can interpret it.

The worship of the Shivalinga and the Sri Yantra become the medium to remember the guru tattwa, the inspiration that allows one to come to the point of experience where one has that first realization and understanding of one's better self.

– 6 April 2016

Satsangs on Guru Bhakti Yoga: *Guru Bhakti Yoga is a monthly sadhana dedicated to Sri Swami Satyananda Saraswati, who attained mahasamadhi on 5th December 2009. Conducted in Satyam Udyam (Akhara), the two-day anusthana takes place on the 5th and 6th of every month to commemorate Sri Swamiji's attainment of Shiva consciousness and his union with Cosmic Shakti. This is a special period of remembrance, and the satsangs Swami Niranjan delivers at the end of these evenings are particularly poignant; through them he helps us to connect directly with the spirit of Sri Swamiji, who brought light and love into our lives.*

Guru and Disciple

Shravanam tu guroh poorva mananam tadanantaram;
Nididhyaasanamityetat poornabodhasya kaaranam.

First is the hearing in front of the guru. After that is the reflection upon (those words). Then profound meditation becomes the cause of full knowledge.

– Guru Gita (v. 42)

Meditations for Walking the Path

During the Chaitra Navaratri this year, a series of meditations was given, indicating the sequential progress on the spiritual path and the qualities one requires at each stage. Simultaneously, a form of the Cosmic Mother was invoked to give strength to these qualities. As a continued series, the second part of these meditations is being presented here.

Stage 2: Holding on to the sankalpa that shows the way

Prepare for the practice of meditation by adjusting your posture. Make sure the spine is upright, the hands are held in a mudra and the eyes are closed. Allow the body to become comfortable, balanced, steady, and still . . . Now shift the awareness to your breath and allow it to become deep and long . . . And let the awareness of the breath bring you fully into the present moment. No other thought, no other experience, only this moment . . . In this awareness of the present, also be aware of where you are – see your surroundings with your closed eyes . . . Listen to the different sounds in the environment . . . keep expanding your awareness to listen to the most distant sounds . . . Now once again contract your awareness back into yourself . . . into your body . . . into your breath . . . into your mind . . . into the depth of your mind . . . into that space where there is complete silence and stillness.

In that stillness, recall the first stage of this sadhana. Recall our effort to travel to Manidweepa, the abode of the Devi. Recall our effort to develop the qualities that will take us there, to begin the journey by invoking the qualities of honesty and fearlessness . . . Our effort to drop all masks, being as we are, having the courage to face ourselves as we are, to face every aspect of life, dropping every insecurity, every fear, by invoking the Shakti who can help us in this . . . For a few

moments feel the strength of complete honesty and complete fearlessness within you.

Now visualize yourself walking ahead on this path of spiritual discovery. At present the path is dark, and there are pitfalls on the way; there are thorns, there are steep rocks, deep abysses . . . You need light to see your way and keep to the straight path . . . Invoke the Shakti who shows this light, today invoke Her as your guiding star . . . She is the Shakti of your sankalpa. It is your sankalpa that keeps you going when the going gets tough. When the light of your sankalpa brightens your path, all confusion dissolves, you become one-pointed, you become determined, all dissipation and distraction dissolves.

Feel the presence of the Cosmic Shakti dissolve all your confusion, all dissipation . . . Invoke Her so your sankalpa is always with you. Visualize your path filled with the rays of Her light . . . And this is the same Shakti that powers your mantra. If She is with you, the mantra will never leave you. Your mantra and your sankalpa go together, and it is Shakti who keeps them alive in you . . . Feel Her presence, Her guidance, Her love, so you may keep walking with determination.

Holding this idea, this invocation within us, we shall end the sadhana. Visualize a flame in your hridayakash, and feel that flame holding the essence of our sadhana, our invocation. Imagine that it is effulgent with the strength of your sankalpa. Feel its glow spreading through your entire body and mind. With the awareness held on this flame we shall chant Om three times and then the Shanti Path. ■

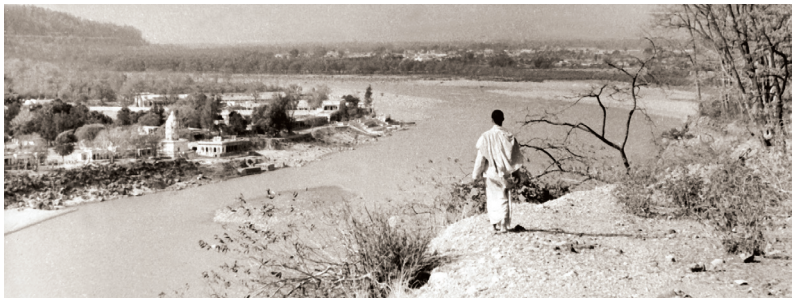

People come to a guru for various reasons. However, the relationship truly begins only at a certain stage. To reach this stage, a state of mind has to be acquired and barriers have to be crossed. One of them is criticism of guru and attachment to guru. They are a specific obstacle on the spiritual path that must be crossed over. They are like a *granthi*, a psychic knot, that must be cut through. Without doing this, one will go only so far and no more. Real spiritual progress begins when one has cut the guru-criticism or guru-attachment granthi. Both are two sides of the same coin. When one overcomes this stage, then and only then is one able to recognize the guru tattwa in the guru, and the vision clears up. Before this, one may have had glimpses, but the path is not clear. Before this, one may think of the guru as a nice person (attachment) or not nice person (criticism), but the guru tattwa is not recognized. When the guru tattwa is seen, then a whole new world opens up. Then one can truly appreciate and understand how the guru's actions are imbued with guru shakti. And that is when discipleship begins. Counting the virtues or flaws of the guru is not the disciple's dharma; the dharma of the disciple is to connect with the guru tattwa in the guru. ■

नन्हे पौधे की अभिलाषा

जीवन बगिया हो कैसे सिंचित,
संकल्प साधक का हो कैसे पूरित।

यह नन्हा पौधा माँगे बगिया,
वह बगिया जिसके तुम माली हो,
सबल किन्तु कोमल कर से,
करते जिसकी रखवाली हो।

बाहर की बंजर बगिया में,
यह नन्हा पौधा मर जाएगा,
बारिश और आँधी की धूल भरी,
माया में कहीं खो जाएगा।

नन्हे पौधे का संघर्ष यही,
बगिया में हैं कंटक पौधे भी,
किन्तु मधुर मुस्कान भरी,
फूलों की क्यारी भी है यहीं।

उन्हीं फूलों को प्रेरक बना,
नन्हा पौधा बढ़ता जाएगा
माली के कोमल घेरे में,
वह कंटक से क्यों घबराएगा।

व्याकुल हृदय नन्हा पौधा,
कब तेरी बगिया का वृक्ष बने,
दे छाँव थके पथिकों को वह,
क्लांत जनों की क्षुधा हरे।

हर पुष्प समर्पित कर तुझको,
तेरे ही पथ पर बिछ जाएगा,
फिर समिधा बन पंच अग्नि में
अपनी पूर्णगति को पाएगा ...।

–संन्यासी सुकीर्ति, राजनाँदगाँव

छत्रपति–चतुष्पदी

An ode to the all-conquering emperor

गुरुकुले गुरुभक्त्या गुरुहृत् जयति स्म यः।
छत्रपतिः चक्रवर्ती दिग्विजयी सः पातु नः॥1॥

May the all-conquering emperor, who in his guru's ashram would win his guru's heart with his guru-bhakti, save and protect us all.

योगबलेन सम्पूर्णसंसारोऽयं येन जितः।
छत्रपतिः चक्रवर्ती दिग्विजयी सः पातु नः॥2॥

May the all-conquering emperor, who conquered the whole world by the power of yoga, save and protect us all.

बाह्याभ्यन्तर-पंचाग्नीन् तपोभूमौ जितवान् यः।
छत्रपतिः चक्रवर्ती दिग्विजयी सः पातु नः॥3॥

May the all-conquering emperor, who in his tapobhumi subdued the five inner and outer fires, save and protect us all.

अंते महासमाधिना मृत्युमपि व्यजयत् यः।
छत्रपतिः चक्रवर्ती दिग्विजयी सः पातु नः॥4॥

May the all-conquering emperor, who in the end triumphed over even Death through mahasamadhi, save and protect us all.

Yoga Publications Trust

Light on the Guru and Disciple Relationship

गुरु शिष्य सम्बन्ध

Swami Satyasangananda Saraswati

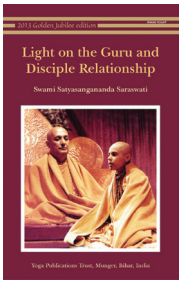

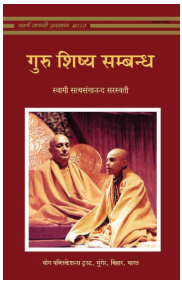

Light on the Guru and Disciple Relationship is an inspiring and practical book in two parts. The first section, written by Swami Satyasangananda, who accompanied her guru, Swami Satyananda Saraswati, on his tours as he enlightened his followers on the science of yoga, contains chapters on how to recognize a guru, types of gurus, types of disciples, negativity towards the guru, initiation, and many more. The second section contains a selection of satsangs and talks by Swami Satyananda on many aspects of the guru-disciple relationship, including the role and relevance of the guru, linking with the guru's spirit, surrendering the ego, transmission and devotion.

For an order form and comprehensive publications price list, please contact:

Yoga Publications Trust, Garuda Vishnu, PO Ganga Darshan, Fort, Munger, Bihar 811201, India
Tel: +91-6344 222430 , Fax: +91-6344 220169

A self-addressed, stamped envelope must be sent along with enquiries to ensure a response to your request.

हरि ॐ

सत्य का **आवाहन** एक द्वैभाषिक, द्वैमासिक पत्रिका है जिसका सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती के संन्यासी शिष्यों द्वारा स्वास्थ्य लाभ, आनन्द और प्रकाश प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों के लिए किया जा रहा है। इसमें श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती, श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती एवं स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के अतिरिक्त संन्यास पीठ के कार्यक्रमों की जानकारियाँ भी प्रकाशित की जाती हैं।

सम्पादक – स्वामी योगमाया सरस्वती
सह-सम्पादक – स्वामी शिवध्यानम् सरस्वती

संन्यास पीठ, द्वारा–गंगादर्शन, फोर्ट, मुंगेर 811201, बिहार, द्वारा प्रकाशित।

थॉमसन प्रेस इण्डिया लिमिटेड, हरियाणा में मुद्रित।

© Sannyasa Peeth 2016

पत्रिका की सदस्यता एक वर्ष के लिए पंजीकृत की जाती है। देर से सदस्यता ग्रहण करने पर भी उस वर्ष के जनवरी से दिसम्बर तक के सभी अंक भेजे जाते हैं। कृपया आवेदन अथवा अन्य पत्राचार निम्नलिखित पते पर करें –

संन्यास पीठ
पादुका दर्शन,
पी.ओ. गंगा दर्शन,
फोर्ट, मुंगेर, 811201,
बिहार, भारत

✉ अन्य किसी जानकारी हेतु स्वयं का पता लिखा और डाक टिकट लगा हुआ लिफाफा भेजें, जिसके बिना उत्तर नहीं दिया जायेगा।

कवर: गुरु पूर्णिमा 2016, पादुका दर्शन, मुंगेर
अन्दर के रंगीन फोटो : 1–7: गुरु पादुका पूजन; 8: स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, गुरु पूर्णिमा 2016

• Registered with the Registrar of Newspapers, India
Under No. BIHBIL/2012/44688

Sannyasa Peeth Events & Training 2016

Jul 5–13	Adhyatma Samskara Sadhana (for nationals)
Jul 12–Aug 11	Vanaprastha Sadhana Satra
Jul 15–18	Guru Poornima Satsang Program (Hindi/English)
Jul 19	Guru Paduka Poojan (Hindi/English)
Jul 19–Jul 9 2017	Sannyasa Experience (for nationals)
Jul 19–Sep 16	Chaturmas Anusthana (for nationals)
Aug 18–Sep 16	Vanaprastha Sadhana Satra
Sep 8–12	Sri Lakshmi-Narayana Mahayajna (Hindi/English)
Oct 1–Dec 25	3-month Gurukul Lifestyle (for nationals)

For more information on the above events, contact:

Sannyasa Peeth, Paduka Darshan, PO Ganga Darshan, Fort, Munger, Bihar 811201, India
Tel: +91-06344-222430, 06344-228603, Fax: +91-06344-220169
Website: www.biharyoga.net

✉ A self-addressed, stamped envelope must be sent along with enquiries to ensure a response to your request